ब्रह्म-सिद्धान्त

(आचार्य मधुसुदन ओझा द्वारा रचित)

(हिन्दी अनुवाद)

अनुवादक

हरिलाल ठाकोर

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन

ज य पु र – 302 004

प्रकाशक :

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन
जवाहरलाल नेहरू मार्ग
जयपुर–302004
फोन : 561582

मूल्य : रुपये 150/–

मुद्रक :

अजन्ता प्रिण्टर्स
जौहरी बाजार
जयपुर–302003
फोन : 564057

निवेदन

'ब्रह्म-सिद्धान्त' के रचयिता महामहोपाध्याय विद्यावाचस्पति स्व० पण्डित मधुसूदन ओझा के दर्शन का सौभाग्य मुझे केवल एक बार, छप्पन-सत्तावन वर्ष पूर्व जयपुर म्यूजियम के एलबर्ट हॉल में हुआ था। अवसर श्री ओझाजी के अभिनन्दन समारोह का था। उस समय मैं महाराजा कॉलेज, जयपुर में बी. ए. कक्षा का छात्र था। हमारे संस्कृत के वरिष्ठ प्रोफेसर स्वनामधन्य पूज्यपाद स्व० श्री सूर्यनारायण जी आचार्य की हम छात्रों को उसमें उपस्थित होने की विशेष आज्ञा हुई थी और आपने ही हमारे प्रवेश-पत्र आदि का प्रबन्ध कराया था। मैं उस समय मेरे पितामह उत्तर-भारतेन्दु काल के प्रसिद्ध सम्पादक तथा पूर्व प्रेमचन्द काल के प्रमुख सामाजिक उपन्यासकार स्व० पूज्य लज्जाराम शर्मा के अनन्य मित्र पूज्य स्व० श्री हरिनारायणजी पुरोहित, विद्याभूषण के घर पर ही रह रहा था। मैं आपके साथ ही उक्त समारोह में गया था। वह एक ब्रह्मर्षि के लिये आयोजित एक शानदार राजकीय भव्य समारोह था। पूर्व सम्राटों के पुरोहित, राजकीय गुरू वशिष्ठ, वामदेव आदि का सम्मान कैसा हुआ करता होगा इसकी कल्पना वहां बहुत कुछ साकार हुई, ऐसा मुझे लगा था। महापुरुषों के दर्शन अमोघ और नि:श्रेयस्कर होते हैं, अत: उस समय मेरे मन के किसी कोने में भी संस्कार रूप से अवश्य ही कुछ प्रभाव पड़ा होगा, किन्तु 'तब मैं रहेहु अचेत'।

मेरे पिताश्री के असमय में ही स्वर्गवास हो जाने से मुझे बी. ए. करके ही अध्ययन छोड़ गृहस्थ की गाड़ी में जुतना पड़ा और पहले बूंदी और फिर राजस्थान की प्रशासनिक सेवा में राज्य के कोने-कोने की खाक छानता रहा। सेवा निवृत्ति के कुछ समय पूर्व जब मेरा स्थानान्तरण जयपुर हुआ तब मुझे परम श्रद्धेय परमहंस श्री १०८ स्वामी श्री ब्रह्मानन्द जी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य हुआ। आपने मुझे दो पुस्तकें, पं० मोतीलालजी लिखित हिन्दी गीता "विज्ञान-भाष्य-भूमिका", प्रथम खण्ड तथा महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी का "वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति" पढ़ने को दीं। साथ ही प्रसाद रूप से एक मन्त्र दिया कि यदि किसी की विचारधारा का अध्ययन करना हो तो अन्य लोगों के निबन्धों से जानकारी लेने के बजाय मूल का ही अध्ययन करना श्रेयस्कर होता है। तब से ही मैं श्री ओझाजी के मूल ग्रन्थों की तलाश में रहा। तलाशते-तलाशते मुझे एक सज्जन मित्र के पास "ब्रह्म सिद्धान्त" ग्रन्थ मिल गया। मुझे ग्रन्थ तो मिला, परन्तु उसे समझाने वाला कोई नहीं मिला। मैं स्वयं गुरुदेव का ध्यान धर उसमें कूद पड़ा। प्रति श्लोक पदच्छेद और अन्वय कर हिन्दी में अर्थ लिखा। स्वनाम-धन्य महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा की टिप्पणियाँ संक्षिप्त एवं सारगर्भित हैं किन्तु वे भी संस्कृत में ही हैं। मैंने उनकी भी हिन्दी कर उससे मूल को समझने का प्रयत्न किया। इस स्वाध्याय के अभ्यसन से एक बड़ी पुस्तक का आकार बन गया। वह जैसा का तैसा मेरे पास है और यदि सुसम्पादित होकर प्रकाशित हो सके तो बहुत बड़ा काम होगा। मैंने इसको वर्तमान स्थिति में असम्भव मान उसका एक संक्षिप्त रूप हिन्दी में तैयार किया जो पढ़ने में सुकर लगा। यह भी मेरे पास बहुत समय तक पड़ा रहा। सौभाग्य से एक दिन जयपुर विश्व विद्यालय के प्रांगण में "राजस्थान पत्रिका"

के सुप्रसिद्ध संस्थापक सम्पादक एवं मालिक सुश्री कर्पूरचन्द 'कुलिश' से भेंट हो गई। आपने मेरे संक्षिप्त अनुवाद को देखा, प्रतिलिपि ले उसे परीक्षार्थ पूज्य श्री स्वामी सुरजनदास जी के पास भेजा। स्वामी जी ने उसे पढ़ा। मुझे बुला कर कुछ भूलें सुधार कीं तथा प्रकाशित करने का अनुमोदन कर दिया। श्री कुलिशजी ने इसे छापने की अनुमति दे मुद्रण, प्रकाशन इत्यादि का समस्त व्यय भार स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप यह पुस्तिका पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

आज श्री स्वामी जी महाराज श्री सुरजनदास जी हमारे बीच विद्यमान नहीं हैं। इसका मुझे अत्यन्त खेद है। मेरे पास आपके स्नेह भरे सुझावों और उत्साहवर्धन के लिए आभार प्रदर्शन करने को कोई शब्द पर्याप्त नहीं है, मैं उनके प्रति केवल नत मस्तक हूँ।

वैदिक संस्कृति तथा विज्ञान की विश्व में दुदुंभी बजाने वाले गुणग्राहक श्री कर्पूरचन्द जी का मैं हृदय से अतीव आभारी हूँ। मेरी हार्दिक कामना है कि आप द्वारा वैदिक वाङ्मय का प्रचार-प्रसार दिन दूना और रात चौगुना होता रहे।

मेरे लिए इस पचहत्तर वर्ष की आयु में जयपुर रहकर मुद्रण आदि का प्रबन्ध करना सुकर नहीं था। इस कार्य को मेरे पुत्र चि० धीरेन्द्र ठाकोर ने अपने सिर ले मुझे इससे मुक्त रक्खा जिसके लिए मेरे आशीर्वाद के अतिरिक्त और क्या कहूँ ?

अवश्य ही इस पुस्तक में अनुवाद, भाषा-विषय की समझ, मुद्रण-लेखन सम्बन्धी अनेकों भूलें होंगी। वे सब मेरे प्रमाद तथा मेरी अल्पज्ञता के कारण होंगी जिसे स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं है। मैं मेरे पितामह स्व० मेहता लज्जाराम शर्मा की गोद में पले हिन्दी प्रेम के कारण ही यह साहस कर रहा हूँ। आशा है विद्वद्गण मुझे क्षमा कर इसे स्वीकार करेंगे।

निवेदक

श्री हरिलाल ठाकोर

"रामझोंपड़ी",
बूंदी (राजस्थान)
दिनांक २० अप्रेल, १९९२

प्रकाशकीय

श्री हरिलाल ठाकोर द्वारा अनुदित 'ब्रह्म सिद्धांत' को हिन्दी में प्रस्तुत करना मेरे लिए प्रसन्नता का विषय है। इस रचना की अपनी एक कहानी है। मैंने जब पं० मधुसुदन ओझा के ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का काम हाथ में लिया तो बूंदी से श्री हरिलाल ठाकोर जयपुर पधारे। उन्होंने "आचार्य मधु" (पं० मधुसुदन ओझा) के प्रति अपनी गहन निष्ठा प्रकट की और प्रस्ताव किया कि वे स्वयं कुछ ग्रन्थों का अनुवाद करने को तैयार हैं। मैं बड़ी दुविधा में पड़ गया। मैं अनुवाद के प्रस्ताव को तो स्वीकार करने को तैयार था, परन्तु उसकी प्रामाणिकता का निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ था। मैंने ठाकोर महाशय से निवेदन किया कि वे अवश्य ही अनुवाद कार्य में रत हों, परन्तु अजमेर जाकर स्वामी सुरजनदासजी (अब दिवंगत) से प्रमाणित करवाने का कष्ट उठावें।

ठाकोर साहब ने ब्रह्म-सिद्धान्त का अनुवाद कर डाला। वे उसे लेकर स्वामीजी की सेवा में पहुँचे। स्वामीजी के लिए यह अप्रत्याशित कार्य भार था। उन्होंने अनुवाद के कुछ अंश देखे और एकाध संशोधन भी करवाये। कुल मिलाकर उन्होंने ठाकोर साहब पर हर निर्णय छोड़ दिया। मुझे उन्होंने अलग से कहा कि ओझाजी के ग्रन्थों के अनुवाद में थोड़ा बहुत समझौता तो करना ही होगा। सामान्यतः उन्होंने ब्रह्म-सिद्धान्त के अनुवाद को ठीक बताया।

ब्रह्म-सिद्धान्त के अनुवाद के विषय में दूसरा प्रश्न यह था कि महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा ने संस्कृत में उसका अनुवाद टीका सहित पहिले ही कर दिया था और उनके ज्येष्ठ पुत्र पं देवीदत्तजी चतुर्वेदी ने हिन्दी में भी अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया था। ठाकुर महोदय ने बाद में बताया कि उन्होंने अनुवाद कर रखा है। मैंने उसे भी इसलिये छपवाना मंजूर कर लिया कि ठाकुर साहब की भावना और साधना का सम्मान हो जाय। इस तरह इस एक ही ग्रन्थ को दो अनुवाद हो गये। जो भी हो मैं इसे वेद-विज्ञान के दोर्ध प्रचार अभियान के ही क्रम में मानकर चलता हूं।

मुझे आशा है कि विज्ञ पाठक 'ब्रह्म-सिद्धान्त' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ को हिन्दी में पाकर अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री हरिलाल ठाकोर के सुपुत्र श्री धीरेन्द्रकुमार ठाकोर ने देखभाल का जिम्मा लिया और पूरा परिश्रम किया। वे बरसों तक प्रेस के चक्कर लगाते रहे। उन्हें साधुवाद !

—क० च० कुलिश

प्रस्तावनानुवाक

मंगलाचरण :

प्रारम्भ में ही ग्रन्थकार ने मंगलाचरण में ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय क्या है यह बता दिया है। मंगलाचरण में सर्व-मूल कारण-ब्रह्म का स्वरूप बताया है। मूल में वह निर्विशेष है। वही परात्पर होकर निरंजन होता है और फिर वही परमात्मा सृष्टि रचने की इच्छा से सांजन, सकल स्वरूप धारण करता है और सर्ग, उपसर्ग तक जगत रूप में परिणित हो जाता है। फिर वही व्यतिक्रम से निरंजन, परात्पर होता हुआ निर्विशेष रूप शेष रहता है। यह कैसे होता है—यही बतलाना प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। श्रुति के निम्न मंत्र आधार भूत हैं।

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्णमेवावशिष्यते"।
"एकोऽहं बहुस्यामः"।
सोऽकामयत, स तपस्तेपे, स विश्राम्यत, सोऽभवत्॥ इत्यादि

वैदिक-विचार-कानन-कान्तार में सुख से प्रवेश करने की इच्छा रखने वाले जिज्ञासुओं के लिए यह प्रवेशिका परिश्रम के साथ सरल पद्य में रची गई है।

वैदिक विषय :

वेद में चार विषय प्रतिपादित हैं—**यज्ञ, विज्ञान, इतिहास, स्तोत्र**। ग्रन्थकार ने इन विषयों का निरूपण चार पृथक् ग्रन्थों में किया है। तथा स्तोत्र का विवेचन भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में **'ब्रह्मविज्ञान'** विषय पर प्रकाश डाला है। इन विषयों के अवान्तर भूत सौ से अधिक ग्रन्थ श्री ओझा ने रचे हैं। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी भूमिका में इनका संक्षिप्त विवरण दिया है। यह साहित्य महान् है। अनेक ग्रन्थ अभी अप्रकाशित ही हैं। प्रकाशित सामग्री ही श्री औझा को सायण, शंकर आदि के समकक्ष रखने के लिए पर्याप्त हैं।

नवीन ग्रन्थ की आवश्यकता :

आलस्य के कारण उत्पन्न अंधकार से ब्राह्मण—वेद तत्त्व ढक गया। उसका मनः समुद्र में अवगाहन करके अन्वेषण करने का इस ग्रन्थ में प्रयत्न किया गया है। पुराने युग में देवर्षियों ने इस विशाल वैदिक ज्ञान का प्रवर्तन किया था। शाखा, प्रशाखाओं के कारण उसके अनेक भेद हो गये, इसलिये उसका पूर्ण ज्ञान होना कठिन हो गया। ब्राह्मण—वेद शास्त्र में

कहीं स्पष्ट, कहीं अस्पष्ट अथवा जहाँ जैसा समझ में आया उस सब विलक्षण अर्थ को वर्तमान में नई युक्तियों से प्रगट किया है। इससे पूर्व किसी ने वैदिक विज्ञान की व्याख्या इस प्रकार से नहीं की। इस अर्थ में यह सर्वथा नई तथा विलक्षण है। कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि ओझा जी ने शास्त्रों का अपनी बुद्धि से मनमाना अर्थ किया है, यद्यपि, ओझाजी कहते हैं कि—"मैं तो अपनी बुद्धि को शास्त्रानुसार उनके अनुगामिनि रखकर ही विचार करता हूँ।" यह आक्षेप लोगों के अज्ञान अथवा साम्प्रदायिक दुराग्रह के कारण है। श्री ओझा स्वयं कहते हैं कि "इसमें मेरा दोष नहीं है। काल दोष से श्रुति के सैद्धान्तिक अर्थ की उपपत्ति बताने वाले ग्रन्थ नष्ट हो गये, इसलिए गति (समझ) के अभाव में हमारा प्रयत्न अत्यन्त निन्दनीय नहीं है। इस समय जो-जो वैदिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं और जो-जो प्राप्त हो सके उनको एकत्र कर चारों तरफ फैले इन विज्ञान बिन्दुओं का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। इसमें जो ठीक न हो उसका कारण हमारा प्रमाद है और जो ठीक हो वह सब ऋषि प्रसाद। जितना भी जैसा मुझे स्पष्ट हुआ उस तत्त्व का निर्धारण किया है। वह तत्त्व वैसा ही है—यह मेरी प्रतिज्ञा नहीं है। मैंने इसमें देव युग के जानने वालों का मत ही बताया है।" ओझा जी को "तत्त्व वास्तव में क्या है"—इस सम्बन्ध में कोई पूर्वाग्रह–दुराग्रह नहीं है। देव युग में जो-जो मत थे सब जैसे थे वैसे निरूपित हुए हैं—यह भी उनकी प्रतिज्ञा नहीं है। यहाँ उन्होंने केवल देवों के बताये मार्ग पर ही दृष्टि डाली है। यह वेद मन्त्र और संहिता का भाष्य भी नहीं है। न इसमें किसी वेद भाग की व्याख्या ही की गई है। परन्तु इसमें **जिन सिद्धान्तों के आधार पर महर्षियों ने मन्त्रों की रचना की है उनकी परिभाषाएं प्रदर्शित की गई हैं।** इन परिभाषाओं-सिद्धान्तों को समझ लेने पर समस्त मन्त्रार्थ स्पष्ट हो जायेगा। इस ग्रन्थ में पुराने विषयों पर ही प्रकाश डाला गया है, परन्तु **विषय प्रतिपादन का तरीका, प्रकार नया है।** इसमें **श्रुतियां** और **युक्तियां** प्रमाण हैं। **यथा नचिकेता को यमोपदेश-कठोपनिषद्।**

जिज्ञासावतरण :

यह जो दिखता है—यह दृश्य जगत क्या है, कब हुआ, कितने प्रमाण का है और इसका कारण क्या है? यह जिज्ञासा स्वतः ही होती है। इसका निराकरण इस **"ब्रह्म-सिद्धान्त"** में किया गया है।

षड् दर्शन समालोचना :

लोकायत, चार प्रकार के वैनाशिक, दो स्याद्वाद, वैशेषिक, चार प्रकार का प्राधानिक, अष्टधा शारीरिक—इस प्रकार षड्दर्शन प्रसिद्ध हैं। षड्दर्शनों का यह क्रम पुराना है। इनमें प्रथम तीन दर्शन वेद प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते इसलिए अवैदिक हैं और शेष तीन हैं वैदिक।

आधुनिक विद्वान् **न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त**—यों छः दर्शन मानते हैं। यह वे अज्ञान से मानते हैं। ग्रन्थकार वैशेषिक और सांख्य दोनों को दर्शन मानते हैं। इनमें जगत का कारण स्वतन्त्र रूप से क्रमशः अणुओं और प्रकृति को माना हैं। दर्शन का उद्देश्य जगत के मूल कारण का अन्वेषण करना है जो इन दोनों में है। इन दोनों को दर्शन कहना न्याय संगत होगा।

सांख्य ज्ञान है और योग उसका कर्म । इस प्रकार सांख्य प्रवचन नाम का यह शास्त्र एक ही है । भेद तो आचार्य भेद के कारण है जो भ्रांत है । आचार्य मधु योग को पृथक् दर्शन नहीं मानते । सम्यक् दर्शन से सम्यक् ज्ञान और उससे चरित्र भी सम्यक् होता है जिससे उसकी आत्मा मुक्त होती है इसलिए प्रत्येक दर्शन के अन्त में प्रत्येक आचार्य ने ही क्रिया योग का उपदेश किया है और सांख्य दर्शन में यही आचार्य भेद से किया गया है । न्याय तर्क शास्त्र है और तर्क न्याय-कथा-शास्त्र । इसमें वर्णित षोड्ष पदार्थ कथा के अंग हैं । इसमें दार्शनिकों के बारह विवाद विषयों का उद्धरण देकर क्रम से वाद कथा का रूप सिखाया है । वह दर्शन नहीं है । वह केवल कथा के नियमों का प्रतिपादक ही है, न कि पृथक् दर्शन ।

ब्राह्मण-वेद में दो विभाग हैं—**ब्रह्म-कर्म** । इनके वाक्यार्थ के विचार को **मीमांसा** कहते हैं । वह षोडष लक्षण है और उसके ही दो काण्ड हैं । ये दोनों एक शास्त्र हैं । आचार्य भेद से इनमें भेद करना भ्रांति है । उनमें ब्रह्म और कर्म विषयों के शास्त्रार्थ का चिन्तन नहीं किया गया है, न यह व्यापक ब्रह्म विचार ही है । इसलिए ये दर्शन नहीं हैं, मनुष्य स्वर्ग के लिए जिन यज्ञादि कर्म को करते हैं उनके विधि वाक्य के तात्पर्य की मीमांसा है । भिक्षु सूत्र में उपनिषद् वाक्यों का ब्रह्म परक तात्पर्य बताया है, वहाँ जगत मूल का चिन्तन गौण है । फिर भी शारिरिक दर्शन में अद्वैत ब्रह्म विश्व का मूल है यह बताया गया है इसलिए यह दर्शन है ।

इस प्रकार आ० मधु ने वैंशेषिक और सांख्य को दर्शन माना है और शारीरिक को विज्ञान बताते हुए भी स्मृति रूप होने के कारण दर्शन में गिना है । वेदान्त-उपनिषद् को श्रौत वेदान्त माना है और शारीरिक को दर्शन और विज्ञान दोनों । यह विभाजन विचारणीय है ।

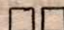
दश विज्ञान प्रस्तावना :

आजकल लोकायत आदि जो षट् दर्शन कहे जाते हैं वे भारतवर्ष के आधुनिक विद्वानों के माने हुए हैं । यहाँ जिन दश पुराने विज्ञानों का विवेचन किया जायेगा वे तो स्वर्ग में दृष्ट और वेदों में वर्णित हैं । वे धन्य हैं ! पहले समय में जब इन षड् दर्शनों का उद्भव नहीं हुआ था, तब स्वर्ग लोक में **दश विज्ञान** का प्रचार था । ये विज्ञान इस समय प्रचलित षट् दर्शनों से बहुत प्राचीन थे । पहले स्वर्गस्थ देवता **"साध्य"** कहे जाते थे, यथा—**"यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः"** इत्यादि । इन साध्यों में परमेष्टी **ब्रह्मा** हुए **जिन्होंने दश वादों का पार्थक्य दूर कर सर्व समन्वय रूप सिद्धान्त-वाद प्रतिष्ठापित किया ।** ब्रह्मा से पूर्व साध्य देव सृष्टि के मूल के सम्बन्ध में अनेकानेक विचारों में विप्रतिपन्न थे । यथा—कुछ सृष्टि का मूल (१) सत्-असत्, कुछ (२) अमृत-मृत्यु, कुछ (३) अहोरात्र, (४) कुछ आवरण-तम, (५) अम्व, (६) रज, (७) व्योम, (८) अप्, और कुछ (९) दैव तथा कुछ लोग (१०) संशय का ही प्रतिपादन करते थे । ये दशवाद उस समय प्रचलित थे, परन्तु इस प्रकार की विप्रतिपत्ति से उनको सन्तोष नहीं था । फिर परमेष्टी ब्रह्मा ने उन परस्पर विरुद्ध मतवादों की आलोचना करके यह बताया कि ये प्रत्येक अपनी-अपनी जगह ठीक हैं, परन्तु एकान्तिक हैं । अतः उनकी एकान्तिकता का निरसन कर सृष्टि का मूल ब्रह्म है यह प्रतिपादन कर इन सब वादों का समन्वय कर इनका ब्रह्मवाद में समावेश कर दिया । देखें—नासदीय सूक्त सं. १०/१२९

इन दशवादों के अतिरिक्त महर्षि विश्वकर्मा, महर्षि दीर्घतमा आदि ऋषियों ने अनेक प्रकार के संशय उठाये। देखें—ऋ० १०, ८, १४; तै० ब्रा० २/७/९; ऋ० सं० १/१६४/३७; ऋ० सं० १/१६४/६ इत्यादि।

इनके निस्तार हेतु **सिद्धान्त-विज्ञान** की रचना की गई है। इसमें यह प्रतिपादन किया गया है कि **सृष्टि का मूल ब्रह्म** है।

जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है उनको ठीक से समझ कर यदि ब्राह्मण–वेद के सृष्टि मन्त्रों को पढ़ा जायेगा तो उनका वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट भाषित हो जायेगा।



ग्रन्थारम्भ

प्रथम भाग

ग्रन्थ के आधारभूत श्रुति स्मृति वचन :—

(१) "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्षाम्यशेषतः ।
यज् ज्ञात्वा नेह भूयोन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥" गीता ॥

(२) "ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥" यजु० वेद ॥

(३) पूर्णं ततो ब्रह्म च कर्म पूर्णं तद् ब्रह्मणि कर्मणि पूर्णताऽस्ति ।
तद् ब्रह्म वीक्षे यदि सर्वकर्मातिरेकतो ब्रह्म तदाऽवशिष्टम् ॥" (पूर्ण द्विसत्योपनिषद् ४१)

(४) पूर्णं पुरा सर्गगतं च पूर्णं, पूर्णात् पुनः पूर्णमुदच्यते तत् ।
पूर्णस्य पूर्णं परिगृह्यते चेत् अन्तेऽवशिष्येत् तदेव पूर्णम् ॥" (पूर्ण द्विसत्योपनिषद् ९)

(५) "एतावान् ब्रह्म वेदोयं ब्राह्मणा विदुरञ्जसा ।
वेदेऽनेन तु सर्वं यद् वेदितव्यं विदा विदुः ॥"

स्पष्ट है कि "सिद्धान्त-वाद" के रचयिता आचार्य मधु 'अभिन्न एकत्व', "सर्वाद्वैत" के प्रतिपादक हैं ।

१· प्रथम अधिकरण

विश्व का मूल ब्रह्म है। वह एक, आद्य, अद्वितीय है। वही सर्व है। उससे परे कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

अखिल विश्व का बीज एक ही है। विश्व उसी का विस्तार है। अन्योन्य पर्याय विपर्यय से सब की एकता सिद्ध है। जैसे एक ही जड़ से—बीज से फल, पुष्प, पत्ते, तना, शाखा, पेड़ हो जाता है उसी तरह एक ही भाव से अनेक भावोदय होकर विश्व होता है। विशेषता केवल यह है कि वृक्षादि में तो अन्य-अन्य योग से सब विशेषताऐं—पर्याऐं होती हैं, परन्तु विश्व विस्तार में अन्य योग की अपेक्षा नहीं है। ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति में कोई दूसरा तत्त्व सहकारी नहीं होता, क्योंकि तत्त्वान्तर का अभाव है। यद्यपि जगतोत्त्पति में बल का सहकार बताया है, परन्तु वह भी ब्रह्म से सर्वथा भिन्न नहीं है। जो स्वरूप से ही अलौकिक है उसके लिए लौकिक दृष्टान्त संभव नहीं है। यह अयोग—अन्य सहकार निरपेक्ष विश्वोदय कैसे हुआ यह अचिन्त्य, अतर्क्य है। यह जैसा है वैसा जानो। अचिन्त्य भाव में तर्क नहीं करना चाहिये।

जैसे एक ही वीर्य बिन्दु से विभिन्न शरीर के भाव अनेक प्रकार के हो जाते हैं—यह विभिन्नता कहां से? एक ही बिन्दु से विभिन्न भाव कैसे? कौन जाने? जिस वीर्य से चक्षु बना उसी से श्रोत्र, वाक् आदि हुये। इनकी यह विशेषता—विभिन्न रूपता कहां से? और चक्षु की तरह अन्य भाव क्यों नहीं काम करते? यह सब अचिन्त्य है। जैसा, जितना इसका रूप है, जो इन्द्रियों में शक्तियां हैं उनको ठीक से किस प्रयत्न से जानें? इसका यह परम रूप तो अचिन्त्य है। विज्ञान अथवा दर्शन अभी तक इसका निर्णय नहीं कर पाया है।

जो इस तूल विश्व का मूल है उसे ही ब्रह्म कहा है। आकाश—'ख' बत् वह विभु होने से उससे बृहत् कोई नहीं है। ब्रह्म शब्द की निरुक्ति 'बृहि' धातु से है। यह मूल तत्त्व सबसे बड़ा है। इस कारण अथवा बृहण—विस्तार करने की शक्ति के कारण उसे ब्रह्म कहते हैं। उसी से जगत हुआ है।

'ब्रह्म' शब्द की दूसरी निरुक्ति 'भृ'—धातु से है। 'भृ' धातु का अर्थ धारण करना, अथवा पोषण करना है। जो सर्व जगत को आधार रूप से धारण करता है, पोषण करता है, पालन करता है, अथवा रक्षण करता है—वह ब्रह्म है।

जैसे नाम का वाक्, रूप का चक्षु और आत्मकर्म का आत्मा, इसी प्रकार विश्व कर्म का जो उक्थ है, जो साम दिखाई देता है उसे ब्रह्म जानो। □

२. रस-बलाधिकरण

श्रुति में वह ब्रह्म रस और उसकी परा शक्ति बल कही गई है। बल रस से भिन्न नहीं गिना जाता। पृथक् सत्ता वाले दो पदार्थों को स्वीकार करना ही द्वैत है। इससे श्रुति प्रतिपादित अद्वैत का विरोध नहीं होता है। रस और बल दोनों एक ही तत्त्व के दो अन्तर्निहित धर्म हैं।

सुप्त हो तो बल, जागृत हो तो शक्ति और क्रिया उसी की परिणति-परिणाम। इस प्रकार एक ही बल की ये तीन अवस्थाऐं हैं।

रस और बल दोनों धर्म हैं; बलोपेत रस धर्मी, ये दोनों धर्म अयुत् सिद्ध हैं। यह सब जगत धर्मी है। प्रथम ये दोनों-रस और बल निधर्मक थे। जहां धर्म में अन्य धर्म न हों उसे निधर्मक कहते हैं। मौलिक धर्म में सत्ता सिद्ध धर्म का निरोध माना है, न उसमें अनेक भाति सिद्ध, भासित होने वाले धर्म ही उदय होते हैं।

इसलिए इससे परअव्यय में और उससे भी परे परात्पर में जो धर्म श्रुति ने बताये हैं वे भाति सिद्ध हैं और जो अक्षर अथवा क्षर में कहे हैं वे सत्ता सिद्ध और भाति सिद्ध भी दोनों प्रकार के हैं। यही इनकी स्थिति है। □

३. संज्ञाधिकरण

रस का नाम अमृत और बल मृत्यु है। यदि बल न हो तो रस ही क्या हो? यदि रस न हो तो बल कहां ठहरे? इसलिए ये दोनों नित्य युत् हैं। एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं। दोनों नित्य मिले हुये रहते हैं।

जैसे विषय के प्रसंग से अनेक रूप में द्रवित होने के कारण चित्त का नाम रस है, उसी प्रकार रस की बल के प्रसंग से बहुरूपता दिखाई देती है इससे इसको रस कहते हैं। चूंकि रस प्राप्त कर सुख होता है इसलिये वह ब्रह्म—सुख रस है। चूंकि अमृत रस है, ब्रह्म भी अमृत है, इसलिए ब्रह्म को अमृत रस कहते हैं।

जल में बल त्रिपथगामी है। इसी तरह जिसमें बल त्रिपथगामी देखा जाता है उस तत्त्व को रस कहा है। लोक में रस शब्द श्रृंगार आदि चित्त की वृत्ति-विशेषों के लिए, आनन्द तथा जल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इन तीनों का रस से सादृष्य है। इसलिए मूल तत्त्व ब्रह्म के लिए रस शब्द का प्रयोग उपयुक्त है। और चूंकि रस को ले लेकर बल अनेक प्रकार का सत्त्व सर्जन करता है, उससे रसों का घनत्व होता है, इसलिए मूल तत्त्व को रस कहा है। प्रत्येक वस्तु के सार भाग को ही रस कहते हैं।

बल शब्द की अर्थ संगति—एक का दूसरे से जो चारों तरफ से दृढ़ अथवा शिथिल आवेष्टन होता है उस संवलन को बल कहते हैं। "वल्" धातु का अर्थ वेष्टन है। वेष्टन का अर्थ

आवरण है। शक्त्यात्मक बल रस का चारों ओर से वेष्टन कर लेता है, जैसे तरंगें जल का। इसलिए रस को वेष्टन करने वाली शक्ति को बल कहना उपयुक्त है। एक ही तत्त्व में उससे ही अनन्त पर्यायें-विवर्त उठना और लीन होना—इसके लिए जल-बीचि का दृष्टान्त सर्वथा उपयुक्त है।

ज्ञान तत्त्व उभयात्मक–मिथुनात्मक–द्वन्द्वात्मक है। रस को श्रुतियों में पवित्र, आभु, सत्, स्थित, विद्या, अमृत, पूर्ण, अकर्म कहा है। इसके विपरीत शक्ति का रूप, बल, पाप्मा, तुच्छ, असत्, यत्, अविद्या, मृत्यु, शून्य, कर्म कहा गया है। रस-बल, पवित्र-पाप्मा, आभु, तुच्छ, सत्-असत्, स्थित-यत्, विद्या-अविद्या, अमृत-मृत्यु, कर्म-अकर्म ये सब युग्म-मिथुन-द्वन्द्व एक ही मूल तत्त्व के उभयात्मक स्वरूप हैं।

आचार्य श्री शंकर ने ब्रह्म-माया का युग्म बताया है और माया को उभयात्मिका। यहां भी बल के कारण ही यह उभयात्मिका है। प्रकृति-पुरुष का मिथुन भी यही है। जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्द ने भी अस्तित्व का स्वरूप बताते हुए सत्ता को सप्रतिपक्ष कहा है। व्याख्याकार **श्री अमृतचन्द सूरी** ने **"स प्रतिपक्षा"** की व्याख्या में कहा है—

"प्रतिपक्षोह्यसत्ता सत्तायाः, अत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणायाः, अनेकत्वमेकस्याः, एक पदार्थ स्थितत्वं सर्व पदार्थस्थितायाः, एक रूपत्वं सविश्वरूपायाः, एक पर्यायत्वं-अनन्त पर्यायायाः"। इति। इसी को आ० चन्द्रसेन ने "तात्पर्य वृत्ति गाथा" में नयत्रय—नैगम, संग्रह तथा व्यवहार से समझाया है। शुद्ध संग्रह नय से वे सत्ता को एक ही महासत्ता मानते हैं, यथा—"अथवैका महासत्ता शुद्ध संग्रह नयेन।" शेष सब अवान्तर सत्ताएं हैं। (पंचास्तिकाय) □

४. निर्वचनाधिकरण

जगत के दो रूप हैं। वह द्विधा विभक्त है। एक निरुक्त और दूसरा अनिरुक्त। जगत को इन्हीं दो रूपों में समझा जा सकता है। निरुक्ति के पहले की उन्मुग्ध, अव्याकृत, निर्विकल्प अवस्था को ही अनिरुक्त कहा है। यह जो अनन्त विश्व दिखता है उसका उपराम नहीं है। यह निरुक्त है। यहां जो भी अविनाशी है उसे अनिरुक्त ब्रह्म कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि अनिरुक्त भी दो प्रकार का है—सर्व अनिरुक्त और आपेक्षिक अनिरुक्त। सर्व अरुनिक्त एक है, आपेक्षिक अनिरुक्त अनेक।

जो पृथक् से स्पष्ट जाना जाय वह निरुक्त, शेष अनिरुक्त। जिस अवस्था में जगत ब्रह्म से पृथक् नहीं जाना जाता वह ब्रह्म की उन्मुग्ध अवस्था है। उस स्थिति में ब्रह्म अव्याकृत और निर्विकल्प कहलाता है। अपरिणामी ब्रह्म से ही परिणामिनी सत्ता, चेतनादि रूप व्यक्त होते हैं। यही "एकोऽहं बहुस्याम" श्रुति वाक्य का अर्थ है।

इस सम्बन्ध में आ० कुन्दकुन्द के "समयसार" में **"एकत्व निश्चय गतः समयः"** वाक्य तथा व्याख्याकार श्री अमृतचन्द सूरी की "समय" व्याख्या—**"समय शब्देन अत्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते।"** तथा "समय" के दो रूप लोक और अलोक की व्याख्या भी दृष्टव्य है।

सर्व अनिरुक्त आपेक्षिक अनिरुक्त में निलीन ही होता है और जाना नहीं जाता। आपेक्षिक निरुक्त रूप विज्ञेय है और अनिरुक्त में विलीन रहता है।

यह उपरोक्त अनिरुक्त प्रकारान्तर से भी द्विविध कहा गया है— एक नभ्य और दूसरा सर्व। यही प्रतिष्ठा है। नभ्य अणिमा है और सर्व भूमा। सब निरुक्त अनिरुक्त-निष्ट है। इनमें नभ्य रूप तो अलक्षण होने से विशेष रूप से नहीं जाना जा सकता। उससे दूसरा उसके आश्रित अनिरुक्त सर्व है जिसका निर्वचन हो सकता है। यों मूल तत्त्व के दो विभाग किये हैं—एक अनिर्वचनीय और दूसरा निर्वचनीय। एक अन्तः चारी, दूसरा जो "बहुधा विजायते"। अव्याकृत-अविभक्त के व्यक्त होने पर-विभाग होने पर एक ही शक्ति से जो विवर्त रूप विभिन्न बहुत से रूप उदित होते हैं उनको निरुक्त माना गया है। अर्थात् **अव्याकृत-अविभक्त का व्याकरण-विभाग ही निरुक्ति है।**

ऊपर अनिरुक्त के दो भेद कहे हैं—**अणिमा और भूमा।** इनमें नभ्य, नाभी केन्द्र में स्थित अत्यन्त अणु रूप जो शक्ति है वह सर्वथा अनिरुक्त है। उसका विभाजन असम्भव है। ऋक्, यजु, साम का अन्तिम साम मण्डल ही सर्व है, उसमें ही सबका अन्तरभाव होता है। अति महान होने के कारण उसके विषय में पूर्ण रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है, परन्तु अवयवशः—खण्ड-खण्ड उसकी निरुक्ति हो सकती है। इस प्रकार यह आपेक्षिक निरुक्त है। उनके मध्य में जितने रूप हैं वे केन्द्र शक्ति से ही उदित होते हैं जो उसके ही विवर्त रूप हैं। **अतात्त्विक अन्यथा भाव विवर्त कहलाता है;** केन्द्र शक्ति स्वयं सतत् एक रूप होने पर भी इनको उत्पन्न करती है। ये विवर्त रूप उस एक ही शक्ति से उत्पन्न होते हैं। यह केन्द्र शक्ति विज्ञान अत्यन्त गम्भीर है।

यह केन्द्र शक्ति-नभ्य अनिरुक्त होने पर भी अवतार और विकास के कारण ज्ञेय है और इसका भी निर्वचन किया जा सकता है। अव्यक्त का व्यक्तिकरण **अवतार** अथवा **विकास** के द्वारा होता है। वैदिक दर्शन के अनुसार अनिरुक्त से ही निरुक्त उत्पन्न होता है। इसके विपरीत ज्ञान पहले निरुक्त का होता है और उससे ही फिर अनिरुक्त का अनुमान। **केन्द्र शक्ति की अपनी ही शक्ति के संसर्ग से जो व्यक्तिकरण हो वह अवतार और अन्य अनेक प्रकार के विचित्र संसर्ग से जो व्यक्तिकरण हो वह विकास।**

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि वैदिक दर्शन के अनुसार अनिरुक्त से निरुक्त की उत्पत्ति—अव्यक्त का व्यक्तिकरण होता है और मानव को पहले निरुक्त का ज्ञान होता है और अनिरुक्त का अनुमान। तात्पर्य यह है कि मूल तत्त्व अपनी ही शक्ति से बिना किसी अन्य शक्ति संयोग के व्यक्त होता है उसे अवतार कहते हैं और जब एक बल के अथवा अन्य-अन्य बलों के अन्य-अन्य बलों से विचित्र-विचित्र संयोग के कारण अभिव्यक्ति होती है वह विकास है। चाहे अवतार रूप, चाहे विकास रूप जो भी अभिव्यक्तियां होती हैं वे सब उस मूल अनिरुक्त तत्त्व से ही होती हैं, परन्तु जब अभिव्यक्त अथवा अव्यक्त, या कहो अनिरुक्त तत्त्व को समझने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो अभिव्यक्ति के विपरीत पहले व्यक्त-निरुक्त का ज्ञान होता है और फिर उससे अनिरुक्त का।

अवतार, विभूति तथा **विकास** का विवरण गीता में भी स्पष्ट किया है। यथा, "अव्यक्तात् व्यक्तय: सर्वे प्रभवन्त्यह रागमे" इत्यादि तथा, "कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षर समुद्भवम्" इत्यादि। गीता में अवतार और विभूति तो स्पष्ट ही है, श्रीमद्भागवत में भी सृष्टि प्रक्रिया में अवतार, विभूति तथा प्रकृति-विकास का वर्णन है। यथा, "अवतारा ह्यसंख्येया:" इत्यादि। यहां हिरण्यगर्भ को भगवान् का आद्य अवतार माना है। सम्पूर्ण विश्व में इन तीनों की झलक अनुभव की जाती है।

निष्कर्ष यह है कि विकास और अवतार का मूल कारण अनिरुक्त है। विकास और अवतार दोनों उसकी प्रकृति हैं। जो परिवारभूत परिग्रह हैं वे सब निरुक्त हैं, प्रकृति में अवस्थित हैं। अज्ञेय के पश्चात् होने वाले सब की निरुक्ति की गई है अथवा की जाती है। अनिरुक्त की निरुक्ति की इच्छा की जाती है—अज्ञेय को जानने का प्रयास है। यही प्रयास 'ब्रह्म-विज्ञान' रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।

मानव की सर्वोच्च आकांक्षा अज्ञेय को जानने की है। अज्ञेय का ज्ञान ज्ञेय के ज्ञान के पश्चात् ही होता है। उस अज्ञेय तत्त्व को ही इस ग्रन्थ में जानने का प्रयत्न किया गया है। अज्ञेय का ज्ञान ज्ञेय के ज्ञान के पश्चात् ही होता है। आचार्य मधु कहते हैं—

"ज्ञातुं यतोऽज्ञातमिह प्रयस्यते तद् ब्रह्म विज्ञानमिदं प्रकाश्यते"।



५. द्वैतोपपादाधिकरण

ब्रह्म सत् है और कर्म असत् । दोनों को ही मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है । जो है उसका "न होना" सम्भव नहीं और जो है वह "नहीं है" यह नहीं माना जा सकता, फिर भी दोनों ही दिखाई देते हैं । इसलिए अमृत और मृत्यु दोनों को पृथक् कहा है । इसी को गीता में कहा है—"नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सत: ।" जैन दर्शन में भी कहा है—"भावस्यनास्ति नाशो नास्ति अभावस्य चैव उत्पाद:" देखें, 'पंचास्तिकाय' आ० १५ ।

जगत में विरोधी द्वन्द एकत्र उपलब्ध होते हैं जैसे, स्थिति-गति, एकात्मता—परिवर्तन-शीलता, रस-बल, कर्म-अकर्म । इन द्वन्दों को स्वीकार करना आवश्यक है । मर्त्य विश्व दो विरुद्ध धर्मों वाला है । बल के बिना रस सर्वथा एक रस ही होगा । वह कभी विकारयुक्त नहीं होगा और अविक्रिय—बल रहित रस से तो सतत् क्रियायुक्त—विकारयुक्त—विकुर्वद् आकृति यह जगत उत्पन्न ही नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि रस के साथ बल की, विरोधी होते हुए भी स्थिति स्वीकार करना होगा । बल ही रस का आश्रय है और रस बल का । दोनों का अन्योन्याश्रय है । बल कहीं भी अनाश्रय नहीं दिखता । यदि कहें कि बल बलाश्रय है, तो जहां बलाश्रय होगा वहां आश्रित बल-बल नहीं होगा, वह रस ही होगा । तात्पर्य यह है कि रस आश्रय है—बल का आधार है ।

बल कर्म्मात्मक है, अप्रतिष्ठ है । स्वभावत: प्रतिक्षण विकारी है । इसलिए यह बल अपनी महिमा में रस के बिना प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । रस बल का, क्रिया का आधार है ।

जगत में विरुद्ध धर्मों का एकत्व दर्शन होता है । गति और स्थिति का अविनाभाव सम्बन्ध है । गति का नाम परिणाम है और स्थिति एक रूपता । इसी सिद्धान्त के आधार पर सर्वत्र स्थिति भी है, गति भी है अर्थात् कूटस्थता भी है और परिणाम भी । स्थिर पदार्थ के बिना गति का आश्रय कौन हो ? गति किसके आलम्बन पर ठहरे ? स्थिति यदि न हो तो गति में तीव्रता, मंदता भेद ही न हो । गति सर्वत्र एक रूप ही रहे । जहां स्थिति अधिक हो, वहां गति मंद कही जाती है; जहां स्थिति कम हो वहाँ गति तीव्र । तीव्रता में भी तारतम्य होता है । अर्थात् कहीं अधिक, कहीं बहुत कम । इस प्रकार वहां भी स्थिति होना सिद्ध होता है । यदि एकान्तत: स्थिति ही हो तो सब ही कूटस्थ हो । इसलिए दोनों ही सर्वथा मानने योग्य हैं ।

उपरोक्त विवेचन का परिणाम यह है कि जहां यह बल प्रतिष्ठित होता है, विलक्षणता पैदा करता है । जहां स्थित यह बल सदा नाचता है वह रूप अवश्य ही अकर्म माना जाता है । अर्थात् कर्म अकर्म पर और बल रस पर आधारित है । बल की परिणति ही क्रिया है । क्रिया स्वयं क्षण-स्थायिनी है । इसलिए एक क्रिया दूसरी क्रिया को धारण नहीं कर सकती । ज्यों ही वहां क्रियान्तर उत्पन्न होती है उसी समय वह विलीन भी हो जाती है । इसलिए क्रिया का आधार क्रिया की अपेक्षा भिन्न ही स्वीकार करना होगा । वहां स्थिरता निगूढ़ होती है । उसको क्रिया की अपेक्षा से भिन्न अकर्म कहते हैं । वहीं कर्म उत्पन्न होते हैं और वहीं लीन होते हैं ।

तारतम्य रहित विशेष गम्य नहीं है, न वह पापातिरेक के कारण गम्य है। पर, अवर अथवा परावर में परात्पर गूढ कहा गया है। तारतम्य—कहीं कम, कहीं अधिक न हो तो सब समान हो, विशेष का ज्ञान ही न हो। यह स्थिति पाप–बल के आधिक्य–अतिरेक–प्रबलता के कारण रम्य नहीं है अर्थात् अचिन्त्य है। तारतम्य के बिना न कोई ज्ञेय है, न चिन्त्य। सब नये-पुरानेपन और उसमें भी कम, अधिक भाव से परिणमन करते दिखाई देते हैं। क्रिया के अधिक प्रयोग से पुरानापन अलग ही प्रतीत होता है। तो भी "यह वही है"—ऐसी पहिचान बनी रहती है। इसलिए स्थिर और चर दोनों ही मूलतया स्वीकार किया जाना चाहिए। स्थिर तो सर्वत्र निगूढ रहता ही है। सिद्धान्त यह है कि स्थिर और चर दोनों ही मूल रूप हैं, स्थिर सर्वत्र निगूढ है। तीन प्रकार के पुरुषों में पर-अव्यय अवर और परावर में, अवर परावर में, और परात्पर तो सब में सर्वत्र ही निगूढ रहता है।

रस बल नहीं है। बल के क्षय और उदय के समय बलाश्रय रस तटस्थ रहता है, इसलिए इन दोनों विशेष रूपों का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। रस और बल दोनों ही पृथक् तत्त्व हैं।

बल के क्षय और उदय के साथ उसके आधारभूत रस का क्षय अथवा उदय नहीं देखा जाता। उदाहरण स्वरूप अंगुली की क्रिया के बन्द हो जाने पर अंगुली भी नष्ट नहीं होती। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि क्रिया और उसका आश्रय रस पृथक्-पृथक् ही हैं।

उपरिवर्णित विरूद्ध धर्मों के एकत्व दर्शन के प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि भगवान् भाष्यकार आचार्य श्री शंकर के शारीरिक भाष्य का तो प्रारम्भ ही विरूद्ध धर्मों के प्रत्यय से ही हुआ है। विशेषता यह है कि जहां आ० श्री मधु ने आधिदैविक, आधिभौतिक सृष्टि-द्वन्दों की बात की है, वहां आ० शंकर ने शारिरिक की, अध्यात्मक की जैसे—युष्मद् अस्मद्—मैं, तुम, विषय–विषयी, चिदात्मक प्रत्यगात्मा और जड़-देह आदि। आचार्य शंकर ने इन द्वन्द्वों को तप-प्रकाश की भांति विरूद्ध स्वभाव बताया है। आ० शंकर ने इनको सत्य-अनृत का, अत्यन्त पृथक् स्वभाव धर्म-धर्मी का मिथुन बताया है और इनका कारण मिथ्याज्ञान और अध्यास बताया है तथा इसके अनर्थ से बचने के लिए उपाय आत्मैकत्व विद्या बताया है। फिर 'आनन्दमयाधिकरण' में ब्रह्म को भी द्विरूप कहा है। ब्रह्म का एक रूप "नाम, रूप, विकार भेदोपाधि विशिष्ट" और दूसरा उसके विपरीत 'सर्वोपाधि विवर्जित' बताया है।

दोनों ही आचार्य महान हैं। एक का विषय शुद्ध आध्यात्मिक, शारिरिक है और दूसरे का सृष्टि के मूल का अन्वेषण और मूल-तुल का वैज्ञानिक विवेचन। एक का दृष्टिकोण दार्शनिक और दूसरे का वैज्ञानिक। उपनिषदों में, गीता में, और ब्रह्मसूत्र में विज्ञान और ज्ञान (दर्शन) दोनों हैं। दोनों का पूर्णत्व हो इसी को गीता में "ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा" कहा है और अर्जुन को सविज्ञान ज्ञान भगवान् ने बताया है।

इसलिए दोनों ही आचार्य माननीय हैं और एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। **ब्रह्मात्मैक्य** दोनों का प्रतिपाद्य है, केवल भेद दृष्टि और प्रक्रिया का है। □

६. विप्रतिपत्त्यधिकरण

गत अधिकरणों में रस-बल, ब्रह्म-कर्म, आधार-आधेय का उल्लेख हुआ है और यह माना है कि रस-ब्रह्म आधार है और बल, कर्म, क्रिया आधेय। इस विषय को लेकर विभिन्न मतों में विप्रतिपत्ति है।

आ० मधु ने श्रमण और ब्राह्मण दो मतों का उल्लेख किया है। श्रमण मतावलम्बियों का मत है कि कर्म ही विश्व है। वह असत् स्वरूप है। इससे भिन्न कोई ब्रह्म नहीं है। ब्रह्मविद् ब्राह्मण कहते हैं कि ब्रह्म ही विश्व है। इसमें कर्म का बहाव है।

टीकाकार श्री चतुर्वेदीजी का कहना है कि श्रमण बौद्ध हैं। श्रम ही क्रिया है। इसलिए बौद्ध श्रम-क्रियावादी होने से श्रमण कहलाते हैं। बौद्धों की मान्यता है कि क्रिया ही जगत है। इसका कोई आश्रय नहीं है। इसके विपरीत ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणों की मान्यता है कि ब्रह्म ही मुख्य है, क्रिया तो उसमें ही उत्पन्न होती है और विलीन होती है।

बौद्ध निस्सार कर्माद्वयवादी हैं। आत्मा को–'स्व' को लक्षण शून्य, दुःख और क्षणिक मानते हैं। जबकि ब्रह्मवादी पर, अवर को मानते हैं और ब्रह्म को एक, रस, अद्वय, पूर्ण सुख तथा सनातन जानते हैं। यह इन दोनों दर्शनों का मौलिक भेद है।

आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती। यदि गति-स्थिति, कर्म-अकर्म, सत्-असत् दोनों ही हैं तो फिर दोनों ही क्यों नहीं जाने जाते ? इस शंका के उत्तर में कहा है कि सूर्य मण्डल के बादल से आवृत्त होने पर सूर्य मण्डल को पृथक् देखने वालों को सूर्य है और वह बादल से अस्पर्श है ऐसी बुद्धि नहीं होती, उनको सूर्य पृथक् से दिखता नहीं। इसी प्रकार कर्म से आवृत्त होने पर अमृत पर सहसा बुद्धि नहीं जाती अर्थात् आत्म नहीं दिखता। इस न्याय से प्रत्यक्ष क्रियावादी श्रमणों को आत्मा की प्रतीति नहीं होती। वे केवल आवृत्त करने वाली क्रिया को ही देखते हैं जो शून्य और क्षणिक है।

आत्मवाद के पक्ष का कथन है कि बादल से ढका हुआ दृष्टि मण्डल अर्क मण्डल को नही छूता–दृष्टि सूर्य मण्डल को नहीं देख पाती, क्योंकि आवरण दृष्टि मण्डल पर है। यदि वास्तव में सूर्य हो ही नहीं तो अंधकारमय–तमोमय बादल के मण्डल का ही अंधकार में कैसे पता चले ? तात्पर्य यह है कि यदि सर्व प्रकाशक आत्मा न हो तो फिर अप्रकाशक तम रूप क्रिया ही का आकलन कैसे हो ? वास्तव में कर्म से आवृत्त होने के कारण हमको आत्म–परमात्म–अमृत का होना प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कर्म से हमारी दृष्टि आवृत्त हो जाती है। वैसे वास्तव में अमृत तो है ही और पृथक् रहता ही है। यदि प्रकाश न हो तो तम के होने का भी पता नहीं चल सकता। इसी प्रकार अमृत, प्रकाश, सत् तत्त्व पृथक् से न हो तो मृत्यु, तम, असत् का भान भी नहीं हो सकता। वह कर्मदोषावृत्त दृष्टि मण्डल उस व्यापक ब्रह्म को शीघ्रता से–बिना प्रयत्न के नहीं देख पाता। यदि ब्रह्म न हो तो निराश्रित कर्म कैसे रहे ? यह क्रिया किसकी हो ? इसलिए ब्रह्म ध्रुव पृथक् है यह माना गया है। समस्त कर्म वहीं स्थित हैं। वहीं कर्म का उदय होता है और वहीं स्थित होता है और वहीं वह खण्डशः क्षण में लीन भी होता है।

तात्पर्य यह है कि बौद्धों का ब्रह्म की सत्ता न मानकर केवल कर्म को ही मानना और कर्म असत्-क्षणिक होने से जगत में सब क्षणिक, भंगुर तथा शून्य-असत् मानना ठीक नहीं है। वह कर्म ब्रह्म ही है अथवा वह कर्म अन्य उससे भिन्न है–यह निर्धारित करना कठिन है। यदि ब्रह्म में ब्रह्म ही माना जाय तो वह ब्रह्म नहीं है, क्योंकि वह–कर्म न आदि में होता है न अन्त में रहता है। ये ब्रह्म-कर्म सर्वथा भिन्न हैं अथवा अभिन्न यह निर्धारित नहीं किया जा सकता। कर्म पृथक् नहीं दिखाई देता इसलिए दोनों में अभेद दिखाई देता है। क्षणिक कर्म नित्य ब्रह्म में कभी दिखाई देता है, कभी नहीं दिखाई देता, क्योंकि व्यक्ति रूप से वह विनाशी है इसलिए भेद भी सिद्ध होता है। अथवा यह कहा जाय कि वह कर्म ब्रह्म ही है, तो यह बात अतिशयोक्ति होगी–बढ़ कर होगी। कर्म निश्चय ही सद्-असद् स्वरूप है। मृत्यु असत् है और परात्पर सत्। यह भेद होते हुए भी भेद की कल्पना नहीं करना चाहिए।

क्रिया ब्रह्म में ही दिखाई देती है—क्रिया तो आश्रय में ही देखी जाती हैं, उससे पृथक् उसका अदर्शन है। इससे क्रिया आश्रय से पृथक् नहीं हो सकती—ऐसा निष्कर्ष निकलता है। अंगुली की क्रिया से पहले भी अंगुली है और क्रिया समाप्त होने पर भी रहेगी इससे यह पता चलता है कि अंगुली से अंगुली-क्रिया भिन्न है। ब्रह्म और कर्म का एक ही प्रकार से निश्चित् निर्धारण नहीं हो सकता—यह असंभव है, इसलिए वेदान्तियों द्वारा यह माना जाता है कि भेद-अभेद द्वारा अनिर्वचनीय क्रिया के मूल में माया है।

कुछ भी हो कर्म की पृथक् सत्ता के अभाव में द्वैत है यह तो कहा ही नहीं जा सकता। निष्कर्ष यह निकलता है कि कर्म ब्रह्माश्रित होने से उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, परन्तु वह ब्रह्म नहीं भी है और वह है भी, इसलिए दोनों का अभेद न मानकर भी द्वैत नहीं माना जा सकता।

जो अनुक्षण परिवर्तमान स्वरूप है, स्थित है, और नित्य है, वह विनाशमान होते हुए भी अविनाशी है। इसलिए इसमें विद्वानों में तीन विप्रतिपत्तियां-मतभेद हैं।

प्रथम विचार है—सत् ही मुख्य है, सत्-असत् कर्म तो कल्पित ही है। दूसरा है—वस्तु असत् ही है। सत्ता की तो प्रवाह के कारण कल्पना की जाती है। तीसरा—दोनों ही स्वीकार्य हैं।

प्रथम मत में स्थिति मुख्य होती है और निवृत्ति-असत् कर्म भक्ति–भाग मात्र–गौण। दूसरे मत में जिसमें असत् से सत् का होना मानते हैं, निवृत्ति-असत् मुख्य है। स्थिति उसका भाग अर्थात् गौण। तीसरे जो यह मानते हैं कि न असत् से सत् हुआ और न सत् से असत् हुआ, परन्तु किसी प्रकार–कदाचित्–कथंचित् यह "है" अवश्य। असत् और सत् दोनों स्वतंत्र हैं। परात्पर–परस्मात परम् कोई नहीं था। और जिनके वाद-मत में असत् से सत् होता है—वे श्रमण प्रसिद्ध हैं। चौथा एक ओर मत है जो मानता है कि पहले तो सत् था, उसके बाद उस पर से कर्म। पांचवां—**वैदिक सिद्धांत** यह है कि पहले–अग्रे सद् भी नहीं, न पहले असद् ही (था), किन्तु **पहले तुच्छ से आवृत्त आभु था।** यथा, **"सदेव नाग्रेऽप्यसदेव नाग्रे किन्त्वाभु तुच्छेन वृतं पुरासीत्"** (सिद्धान्तवाद श्लो. ५१)

यह सिद्धान्त श्रुत्योक्त है। निष्कर्ष यह है कि उस समय सत्-असत् दोनों ही थे। □

७. वैधर्म्याधिकरण

रस और बल का परस्पर सम्बन्ध :

इनका देशकृत पृथकत्व नहीं है और स्वरूपतः ये पृथक् हैं और नहीं भी हैं। जब जागृत (बुद्ध) हो तो पृथक हैं और सोये (सुप्त) हो तो पृथक नहीं हैं। उनके दोनों के धर्मों में तो पृथकत्व है ही। इसमें प्रतिष्ठित बल का तथा विभू होने से रस का देश अन्य नहीं है। ब्रह्म ही सबकी प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा न हो तो अप्रतिष्ठा कैसे ? सदा रस ही बल की प्रतिष्ठा है। सुप्त बल का पृथकत्व दिखाई नहीं देता। अंगुलियों में जहां तक क्रिया नहीं होती, तब तक बल अंगुली रूप ही है। क्रिया उत्पत्ति की दशा में अंगुली से पृथक् क्रिया स्वरूप अंगुली के आश्रय से प्रतीत होती है। इसीलिए अंगुली और क्रिया में आधेय आधार भाव होना कहा जाता है। धर्म तो दोनों का पृथक्-पृथक् है। रस–बल, सत्–असत् का यह समवाय मूलतः स्वीकार करने पर रस–बल की दो परिस्थितियां प्रकट होती है, रस युक्त बल तथा बल युक्त रस।

जैसे ऊपर कहा है कि रस में प्रसुप्त बल का स्वरूप रस से पृथक नहीं है, उसी प्रकार बल से युक्त रस का स्वरूप भी रस से पृथक् नहीं है। तात्पर्य यह है कि रस में चाहे बल प्रसुप्त हो, चाहे क्रियाशील, दोनों ही अवस्था में रस में कोई अन्तर नहीं आता, रस सदा रस ही बना रहता है। भुक्त बल का अर्थ रस में लय प्राप्त बल से है।

जैसे रस में प्रबुद्ध बल का स्वरूप रस से विभिन्न होता है, वैसे ही बल से युक्त रस का स्वरूप रस से विभिन्न होता है। परस्पर मिले हुए (अन्वाहित) हों, अथवा परस्पर भिन्न (व्यतिरिक्त) हों—दोनों अवस्थाओं में उन दोनों की सब प्रकार से विपरीत वृत्ति होती है, अन्यथा दोनों की कल्पना ही वृथा है।

रस और बल के धर्म परस्पर विरुद्ध हैं जैसे, ब्रह्म अमृत है, पूर्ण, अखण्ड, शान्त, शिव, शाश्वत तथा रूपमय है और अनादि, अनन्त, असंग, अव्यय, निर्गुण, निष्कल एक तथा अक्रिय है। ये रस–ब्रह्म के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के धर्म हैं।

बल क्षुब्ध, क्षणिक, प्रदेश वाला घोर, मित, शून्य, अनेक, अल्पवत्, प्रतिक्षण अपूर्ण, स्वलक्षण, क्रियात्मक भूरिकल (अकल का प्रतिलोम) तथा महागुण है। क्षुब्ध का अर्थ दुख योनि और शून्य अर्थात पृथक् सत्ता न होने से सत्ता रहित है। प्रत्येक क्षणिक कार्य विलक्षण होते हैं। एक का दृष्टान्त दूसरे में मिलना असम्भव है—इसीलिए कर्म को स्वलक्षण कहा गया है। क्रिया ही धारावाहिक होकर गुण रूपता को प्राप्त करती है। इसलिए वह सर्व गुण रूप है। वही गुणों का आश्रय है। रस में गुण उत्पन्न नहीं होते। रस को अक्रिय कहा है। क्रिया दो प्रकार की होती है—एक देश त्याग रूपा, दूसरी परिणाम रूपा। रस में किसी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं है। रस विभु है, अखण्ड है।

जो सदा बृहत् है, जो विस्तृत है उसको ब्रह्म कहते हैं। वह अक्षय है और जो होकर नष्ट हो जाता है वह कर्म कहलाता है। वही सृष्टि, विसर्ग है। यथा, "विसर्गः कर्म संज्ञितः" (गीता)। ब्रह्म जगत की नित्य प्रतिष्ठा है। वह सर्व बीज है और वही यह विकास है। उसका कर्म

ही बल है। उसका स्वरूप अस्ति, नास्ति, सत्ता और विनाश है। ब्रह्म मायातीत है। उसने सर्व कर्मों को धारण कर रखा है। वह सब कर्मो का आधार है। वह इस तूल विश्व का एक मूल है। जगत में अमुक अमुक अर्थ व्यक्ति रूप से नष्ट होते हैं। जगत समष्टि रूप से कभी नष्ट नहीं होता। जब जगत का नाश ही नहीं होता तो एक व्यक्तिरूप के नष्ट होने पर इस जगत का विनाश कैसे मानें? यह अनिवाशी है। ब्रह्म का न नाश होता है न वह उत्क्रमण करता है न कम होता है और न उसमें कोई विकार होता है। न वह पुराना पड़ता है। न वह बद्ध है न मुक्त। वह ऊपर नीचे से बाह्य है और अन्त: स्थित समरूप स्थित है। ब्रह्म तो सत् ही है, उसकी कभी नास्ति नहीं होती। इसलिए सत् में स्थित कर्म भी सद् कहलाता है। वह असत् कर्म कैसे सत्ता प्राप्त करता है? यह कोई जान नहीं सकता। इसी अर्थ में शंकर भी असत् माया की सत्ता को अनिवर्चनीय कहते हैं। आ० मधु भी माया को बल का ही एक प्रकार मानते हैं।

ब्रह्म कर्म का कर्ता-भोक्ता स्वरूप भी है। कर्म वह जो किया जाए, जो इसका भोक्ता वह ब्रह्म और ये दोनों भिन्न हैं। कर्म क्षणिक है इसलिए वह अपने फल का ही भोक्ता कैसे हो सकता है? व्याकरण के अनुसार कर्ता क्रियाश्रय और कर्म फलाश्रय होता है। वेदान्त दर्शन कहता है कि कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों एक साथ नहीं होते। आ० श्री मधु कहते हैं कि कर्मवाच्य क्रिया में कर्तृता तथा ब्रह्म में भोक्तृता फलाश्रयता दोनों ही स्वीकार किया जाना चाहिए। कर्म की कर्तृता और ब्रह्म का भोक्तृत्व दोनों ही मानना उचित है। स्वयं क्रिया ही उत्पत्ति रूप अन्य क्रिया को उत्पन्न करती है। अत: क्रिया ही कर्ता है। जितने भी कर्म हैं उनका स्वयं उद्भव होता है। उससे जगत् का उद्भव होता है। यदि क्रिया न हो तो कुछ भी न हो इसलिए कर्म ही कर्ता कहा गया है। बल से कम्प और उसका फल (कर्म) और कर्म कभी अनाश्रित नही होता है। अतः निष्कर्ष यह है कि ब्रह्माश्रित बल, बल से कम्प, कम्प से फलस्वरूप विशेष अर्थात् संसार। इन सब का आश्रय ब्रह्म है इसलिए यही उसका भोक्तृत्व है। परन्तु विलक्षणता यही है कि इतना होते हुए भी आश्रय ब्रह्म में विकार नहीं होता।

यह ब्रह्म-रस अर्थात् अमृत है और बल मृत्यु। जो अकर्म रूप है वह अमृत ब्रह्म है, कर्म ही मृत्यु है जो यहां दिखते दिखते ही नहीं दिखता। रसब्रह्म को मरण स्पर्श नहीं करता, बल नित्य मरणधर्मा है। बल स्वयं मरता है और अपने सम्बन्ध से दूसरे को मारना, आवरण करना चाहता है करता है, इसलिए रस अमृत और बल मृत्यु है। यह बल की दृष्टनष्ट रूपता है। रस एक है, अक्रिय है। क्रिया का आश्रय होते हुए भी उसकी कभी "नास्ति" नहीं होती है। वह विभु है। वह देश, काल और रूप से भी कभी सीमित नहीं होता।

क्रिया परिछिन्न वस्तु में कम्प अर्थात स्थानच्युति करती है। विभु में अवयव का अभाव होने से कम्प नहीं होता, सर्वत्र उसकी उपस्थिति होने से स्थान च्युति नहीं होती, अव्यय होने से उसमें परिणाम नहीं होता, इसलिए वहां कोई भी क्रिया विशेष पैदा नहीं हो सकती। वहां क्रिया भी स्वयं शान्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि क्रिया-बल सर्वदा रस के आश्रय में रहने पर भी रस में कोई क्रिया विशेष उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि रस विभु है, अव्यय है—अत: अच्युत है।

मृत्यु कैसे एक है ? कैसे मृत्युएँ बहुत हैं ? जैसे एक ही अणु अमृत में सदा ही अमृत है, वही प्रजाओं में अनेक प्रकार से अन्तर्निहित है । इस प्रकार बल की क्रियाशीलता में कोई संशय नहीं है ।

विज्ञ लोग अमृत को पवित्र और मृत्यु को पाप्मा मानते है । परन्तु सब ही दोनों के बलानुसार और सम्बन्ध से पवित्र करते हैं और पवित्र होते हैं । एकान्ततः बल के तारतम्य से सब पवित्र भी करता है और कालुष्य भी । वह पाप्मा को पवित्र करता हैं इसलिये यह पवित्र है और कलुषित करता हैं इसलिये पाप्मा है । एकान्ततः यह न सत् है, न असत् । यह जगत न प्रसन्नता देने वाला है, न कल्मश ही । सद् असत् रूप से असत्व के साथ योग को ही कालुष्य कहते हैं । जगत् दोनों से ही उत्पन्न हैं इसलिये प्रसाद (प्रसन्नता) और कालुष्य (पाप्मा) दोनों ही यहां प्रतीत होते हैं । चूंकि बल, बन्ध सम्बन्ध से विशेष रूप से भावोदयन रूप विकार को प्राप्त होता है इसलिये, अथवा उसके विज्ञान को आवृत्त करता है इसलिये, अथवा वह अमृत को ढक लेता है, घेर लेता है इसलिये, पाप्मा कहलाता है । यह है कालुष्य ।

बन्ध होने पर भी जब सम्बन्ध विशेष के अनुग्रह से रस का प्राकट्य होता है उसको **विभूति संसर्ग** कहते है । जब बल के अभिभव के कारण रस प्रसाद को प्राप्त होता है वही पवित्रता है यह पाप-पवित्र शब्दों की व्युत्पत्ति हैं । बन्ध संयोग में जब पवित्र (रस) का अनुग्रह होता है तब उसके क्रम से विभूति का उपक्रम होता है । पाप्मा के दब जाने से ज्ञान, अमृत, ज्योति का विकास होता है । इसे ही पवित्रता कहते हैं । कालुष्य पाप है । ज्ञान, अमृत, ज्योति का विकास पवित्रता है ।

अमृत में मृत्यु-कर्म का लय हो जाता है । उसमें बल के लीन होने से अमृत को लिङ्ग कहा है और जहां बल अमृत में सांष्लिष्ट होता है उस कर्म को **योनि कहते हैं** ।

यहां लिंग और योनी का अर्थ सर्वथा अपूर्व है । जिसमें लय हो वह लिंग । चुंकि अमृत में मृत्यु लीन हो जाती है इसलिये वह अमृत-रस लिङ्ग है । योनि का अर्थ मिलना, मिश्र हो जाना— संष्लिष्ट होना है । बल रस में संष्लिष्ट रहता है अतः बल को योनि कहा है ।

कर्म शून्य भी है और पूर्ण भी । जहां क्रिया नहीं वहां सृष्टि नहीं । कर्म विकास का आवरण है इसलिये उसे शून्य कहा है । जहां वह सृष्टि रूप है वहां अमृत से पूर्ण वह पूर्ण हैं । इस प्रकार मृत्यु (कर्म) का स्थान भी दो तरह का है । तात्पर्य यह है कि पूर्ण ही सद् कहा जाता है । सद् ही आनन्दमय विकास कहलाता है । इस प्रकार यह द्विधा होता है—**पूर्ण और शून्य** ।

मृत्यु का अमृत स्थान एक परिपूर्ण होने से वह **भूमा** है । उसका शून्य में भी अनस्तित्व (नास्ति) नहीं है । वह व्योम की तरह पूर्ण है । सृष्टि काल में भी वह पूर्ण है ।

तात्पर्य यह है कि अमृत में स्थित कर्म भी तद्रूपता के कारण भूमा और पूर्ण कहलाता है । इसलिये शून्य कर्म भी पूर्ण नहीं हैं ऐसा नहीं है । अर्थात् रस की पूर्णता के कारण तद्रूपता

को प्राप्त कर्म की भी पूर्णता ही कही गई है। इसलिये "पूर्णमदः पूर्णमिदं"—इस श्रुति में इदं पद में कर्म का भी पूर्णत्व कहा गया है।

निष्कर्ष यह है कि:—

पूर्णंपुरा सर्गगतं च पूर्णं पूर्णान्पुनर्पूर्णं मुदच्यते तत्।
पूर्णस्यपूर्णं परिग्रह्यते चेदन्तेऽवशिष्येत तदेव पूर्णम्॥

यह सर्ग से पूर्व पूर्ण था, सृष्टि अवस्था में भी वह पूर्ण है। यदि पूर्ण में से पूर्ण को निकाला जाय तो जो बचेगा वह भी पूर्ण ही है।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवेचन—"पूर्णमदः, पूर्णमिदं-पूणात् पूर्णमुदच्यते।पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णं मेवाऽवशिष्यते" इस श्रुति मंत्र का ही व्याख्यान है। □

८. संसर्गाधिकरण

कर्म दो प्रकार के हैं। एक कर्म में कर्म के अनेक प्रकार के संसर्ग भेद और दूसरे अकर्म में कर्म। दोनों ही एक से नहीं होते।

कर्म में कर्म का सम्बन्ध-संयोग-अन्वय पांच प्रकार का होता है—(१) स्थानावरोध (२) सामञ्जस्य, (३) एकात्मक रूप, (४) एकभाव्य रूप और (५) विशेष सृष्टि में भक्ति–भाग रूप।

(१) स्थानावरोधी सम्बन्ध—पूर्णजल में जल कण तथा मिट्टी में मृत्कण परस्पर संयोग–सम्बन्ध करते हुए भी इनके अणु परस्पर नहीं मिलते, क्योंकि स्थान का अवरोध करने वाले हैं। ये स्थान घेरते हैं। इसी प्रकार किसी स्थान के आश्रय में रहने वाले अणुओं के अपसर्पण से गिरने अथवा हटने से ही पृथ्वी में, भींत में, तथा लकड़ी में शंकु गाड़ा जाता है। अर्थात् इनके अणुओं का तथा कीली का सम्बन्ध–अन्वय–योग भी स्थानावरोध सम्बन्ध है।

(२) सामञ्जस्य सम्बन्ध—जल अथवा मिट्टी की तरह प्रकाश रश्मियों में स्थानावरोधकता नहीं है। एक ही छोटे घर में सौ दीप प्रकाश का होना सम्भव है। उनका–प्रकाश का सामञ्जस्य सम्बन्ध है जैसे दर्पण और चक्षु का सामञ्जस्य सम्बन्ध जहाँ दर्पण और नेत्रों में छोटे स्थान में ही अनेक प्रकार के तेज के रूप विभिन्न दिशाओं से आकर साथ ही रहते हैं। इसी प्रकार दो क्रियाओं का एक स्थान पर स्थिर होना भी सामञ्जस्य संयोग का एक उदाहरण है। दो विरुद्ध दिशाओं से आने वाले बल के कारण कराश्रित बल खिंचता है परन्तु विरुद्ध दिशाओं से आने वाले बल के कारण दोनों बल एक साथ एक स्थान पर ठहरे हुए प्रतीत होते हैं अर्थात् स्थिर हो जाते हैं। यह दो क्रियाओं के एक स्थान पर स्थिर होने का सामञ्जस्य संयोग का उदाहरण है।

(३) एकभाव्य सम्बन्ध—इसमें दो विभिन्न परमाणुओं के संयोग से तीसरे ही नये परमाणुओं का निर्माण हो जाता है जैसे तेज-अम्बु का सम्बन्ध। इन दोनों के परमाणुओं के मिलने पर एक नया ही जलाणुभाव पैदा होता है। आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में–अप् परमाणुओं को हाइड्रोजन और तेजस् परमाणुओं को ऑक्सीजन कहते हैं। इनमें संयोग से जल (Water) बनता है–H_2O। वैदिक मंत्र में अग्नि–सोम से जगत की उत्पत्ति बताई है। यथा, 'अग्नि मे सोमोब्रवीत् अन्तर्विश्वानि भेषजा, अग्नि च विश्व संभवम्।' भगवान् कणाद ने भी कहा है–"अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्"–इसमें तेज का जल में संयोग स्पष्ट है। योग दर्शन (पातंजलि) में भी विभिन्न जातीय सामान्य विशेषात्मक द्रव्यों से नये परमाणुओं का संघटन होता है–यह माना जाता है। **अप् की चार अवस्थाएँ बताई हैं–अम्भ, मरीचि, मरः, आपः** (ऐतरेय ब्रा०)। इनमें स्थूल जल तो संयोग विशेष से होने वाली अवस्था मात्र ही है। इसी प्रकार बीज, जल, मिट्टी के सम्मिश्रण से अंकुरोत्पत्ति भी एकभाव्य सम्बन्ध का उदाहरण है। इन सम्बन्ध विशेषों से पृथक्-पृथक् अनेक उपादान–उपादेय भाव, कार्य-कारण भाव होते हैं।

(४) **एकात्म सम्बन्ध**— जैसा ऊपर कहा गया है समञ्जस्य सम्बन्ध में दोनों की पृथक्-पृथक् स्थिति रहती है, जब कि एकात्म सम्बन्ध में दोनों की एकता होती है। इन दोनों में यही अन्तर है। उदाहरणार्थ–अप्–अग्नि; चूर्ण–अम्बु; अग्नि से पकाई मिट्टी।

एकात्म और एकभाव्य सम्बन्ध में एक और बड़ा अन्तर है। एकात्म सम्बन्ध में एक का वियोग–पार्थक्य भी प्रकृति से ही होता है, जैसा कि गर्मजल में और चूर्णपिंडी भाव में होता है परन्तु एकभाव्य में तो सम्मिलित दोनों तत्त्वों का वियोग–पार्थक्य रासायनिक प्रक्रिया बिना नहीं होता और नये द्रव्य की उत्पत्ति भी होती है। रासायनिक क्रिया द्वारा संयोग और वियोग होने पर वह अभिनव द्रव्य नष्ट होजाता है। यह सम्बन्ध–पृथकता से होता है। तात्पर्य यह है कि **एकात्म सम्बन्ध में तत्त्व एक दूसरे से पृथक् भी होजाया करते हैं, किन्तु एक्यभाव में बिना रासायनिक प्रक्रिया के पृथक् भाव नहीं होता।**

(५) **भक्ति सम्बन्ध**—एक का दूसरे में उपसंक्रमण ही भक्ति है। उदाहरण स्वरूप–शिविका क्रिया और मनुष्य का सम्बन्ध। पालकी में बैठा आदमी नहीं चलते हुए भी शिविका की गति के क्रम से उसके भक्ति–भूत, भाग–रूप होकर जाता है—यह मनुष्य तथा यान का भक्ति सम्बन्ध है। यों क्रिया में क्रिया के पांच सम्बन्ध हैं उनमें भी स्थानावरोध सम्बन्ध मुख्य रूप माना गया है।

ब्रह्म–कर्म का सम्बन्ध अथवा अकर्म में कर्म संयोग इनसे भिन्न हैं। ब्रह्म–कर्म में जो सम्बन्ध होता है वह स्थानावरोध से कदापि नहीं होता, इसलिए **पूर्ण रस में अपूर्ण बल सर्वत: तादात्म्य रूप से सम्बन्ध करता है।** इसके अतिरिक्त ब्रह्म–कर्म दोनों ही शाश्वत हैं–अत: इनका सम्बन्ध भी शाश्वत ही होता है। दोनों विशिष्ट रूप से अद्वय हैं। इसलिए इनका सम्बन्ध रूप भी शाश्वत है–विशिष्ट है। लगता है इसी दृष्टि से विशिष्टाद्वैत प्रचलित हुआ है।

ब्रह्म–कर्म के सम्बन्ध में मात्रा नियम भी नहीं है। यह सम्बन्ध होने पर भी सर्ग–सृष्टि नहीं होती। इस सम्बन्ध में मृत्यु में अमृत असक्त और मृत्यु स्वतन्त्र भासित होती है। परन्तु जब मित अमित के साथ, मृत्यु अमृत के साथ कहीं निरूढ़ मात्रा में संक्रमण करती है तब **संसर्ग** नाम का **सम्बन्ध** विशेष होता है। उसी सम्बन्ध से सृष्टि होती है।

रस–बल, ब्रह्म–कर्म, अमृत–मृत्यु का तादात्म्य सम्बन्ध तो है परन्तु इससे सृष्टि नहीं होती। इनका परस्पर संग नहीं है। दोनों ही स्वतन्त्र हैं अत: इनसे सृष्टि नहीं हो सकती। इनसे सृष्टि होना सम्भव नहीं है। जब बल जो स्वयं परिछिन्न है अपने सम्बन्ध से रस को भी परिछिन्न कर देता है जैसे समुद्र जल में तरंगें तब अमित रस भी मित की तरह भिन्न प्रतीत होता है जैसे घर, भींत आदि से निबद्ध आकाश। उस परिछिन्न–मित में जब दूसरे बल का सम्बन्ध होता है तब सृष्टि प्रवर्तन होता है। एक ही बल से मित रूप में आभासित रस में यह जो बलान्तर सम्बन्ध होता है वही संसर्ग कहलाता है। सम्यक् सर्गारम्भ हो–सृष्टि होना शुरू होजाय वही संसर्ग है।

यह संसर्ग दो प्रकार का है—(१) वृत्तित्व संसर्ग, (२) स्वरूप संसर्ग। शक्त्याश्रयत्व वृत्तिता है और तादात्म्य, एकात्म्य स्वरूप सम्बन्ध है। जहाँ ग्रहातिग्रह भाव की सिद्धि हो वह बल वृत्ति संसर्गी बल कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप में स्थित रसबल का सम्बन्ध **स्वरूप संसर्ग** कहलाता है। बल में बलान्तर सम्बन्ध के कारण चिति होती है। चिति को चयन कहते हैं। जैसे ईंट के ऊपर दूसरी ईंट रखने से चुनाई होती है, उसी प्रकार बल पर दूसरे बल का आना चिति कहलाती है। बल की चिति होने पर भी रस का प्राधान्य होने से अव्यय, अक्षर, क्षर—इन तीन पुरुषों का प्रादुर्भाव होता है तब इस प्रकार जब विशिष्ठ पुरुषों तथा प्रकृतियों का फिर जो परस्पर सम्बन्ध होता है वह **वृत्तिसंसर्ग** कहलाता है। पुरुष का शक्ति के साथ सम्बन्ध होने पर **"ग्रहातिग्रहभाव"** होता है। यह वैदिक परिभाषा है।

स्वरूप संसर्ग के सम्बन्ध में छह विकल्प हैं :—(१) कर्म-बल अकर्म-रस में स्थित है (२) अकर्म बल में स्थित है (३) दोनों भिन्न है (४) दोनों अभिन्न, अद्वय हैं (५) ब्रह्म स्वतन्त्र रूप से कर्म से भिन्न-पृथक् है, कर्म ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं (६) ब्रह्म ही सत्य है, कर्म तो अध्यास-भ्रम मात्र है।

लौकिक भाषा में भी उत्पादन-उपादेय, अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध पट-तन्तु के उदाहरण से इसी प्रकार से छह प्रकार का बताया जाता है। ये विकल्प बुद्धि भेद के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। इनमें वस्तुतः चाहे भेद न हो परन्तु यह भी स्पष्ट है कि एक-एक विकल्प को लेकर पृथक्-पृथक् दर्शन बन गये हैं। वैदिक दर्शन इनसे भिन्न है। वैदिक दर्शन के अनुसार रस-बल का स्वरूप संसर्ग होने पर रस बल स्वरूप भासित होता है। रस स्वरूप से बल प्रवाही होता है और ये भिन्न रूप से कभी पृथक् नहीं होते।

बल कुर्वद् रूप है तो रस अकर्म रूप। परन्तु जब इनका स्वरूप सम्बन्ध होता है तो रस कुर्वद् रूप, क्रियावान् दिखाई देता है। इसी तरह बलक्षणिक विनाशी है और रस स्थाई। दोनों के स्वरूप सम्बन्ध के फल स्वरूप बल भी प्रवाह रूप से स्थिरता-सातत्य प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि संसारदशा में सर्वत्र क्रिया ही प्रतीत होती है—क्रिया का आश्रय रस भी क्रिया रूप से ही भासता है। जबकि प्रलय दशा में बल दबकर रस रूप में ही लीन हो जाता है। यही विलक्षता है।

भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है :—

"कर्मणो ह्यपि बोधव्यं बोधव्यं च विकर्मणः।
अर्कण श्चापि बोधव्यं गहना कर्मणो गतिः॥"

रस अन्तर में—भीतर है, वह बाहर है, वह सब ओर है। मृत्यु में अमृत चारों ओर से पूरी तरह संयुक्त-समाहित-आहित है। मृत्यु अमृत में रहती है। मृत्यु की आत्मा अमृत है। इसलिए मृत्यु नहीं मरती। कहा है:—

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्यनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न्यकर्मकृत् ॥ गीता ॥

गति-स्थिति, अमृत-मृत्यु में विरोध नहीं है। दोनों समान हैं। शून्य में भी, सृष्टि काल में भी ये सदा पूर्ण हैं। कर्म में अमृत पूर्ण न हो ऐसा नहीं है। श्रुति है:—

"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितं, मृत्युर्विवस्वन्तं वसो मृत्योरात्मा विवस्वति।" इसमें अमृत और विवस्वत् पद ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं।

स्वरूप संसर्ग तीन प्रकार के हैं :—योग, बन्ध और विभूति। इनमें तीन प्रकार के आत्म सर्ग प्रसिद्ध हैं। संसर्गनाश को ही मोक्ष कहते हैं।

जहाँ ब्रह्म प्रधान हो वह विभूति सर्ग, कर्म प्रधान हो वह बन्ध और दोनों का साम्य, योग। ये त्रिसर्ग ही विश्व के कारण हैं।

बन्ध सम्बन्ध का स्वरूप लक्षण—जहाँ रस-बल दोनों के मिलने पर, अन्वित होने पर, अपूर्व–नई योगज सृष्टि का उदय होता है किन्तु वे एक दूसरे से आहत होकर—मृत होकर पृथक्–स्वतन्त्र नहीं रहते, उसे बन्ध-सम्बन्ध कहते हैं। यहाँ मरने का अर्थ अपने स्वरूप को खो देना है जैसे—रस अकर्मक है, परन्तु कृतक प्रतीत होता है। अविछिन्न, एक होने पर भी रस परिछन्न सा लगता है। यही उसका मरना है। इसी प्रकार बल भी सृष्टि-सर्ग दशा में अस्थिर के स्थान पर स्थिर-स्थित और मृत-क्षणभंगुर के स्थान पर प्रवाही रूप हो जाता है। इस प्रकार सृष्टि दशा में दोनों अपने-अपने स्वभाव को खो देते हैं। यही इनकी मृत्यु है।

विषय अलौकिक है, केवल बुद्धिगम्य है। साधारणतया तो इसमें बुद्धि का प्रवेश भी सम्भव नहीं। समझाने हेतु लौकिक उदाहरण दिये जा सकते हैं यथा—पानी में हवा चलती है, पानी हवा को खंडशः आवरण करता है तो वह बुद्‌बुद् है। और यदि वह आवृत्ति भंग न हो, अर्थात् बुद्‌बुद् बनते रहें तो वे मिलकर फेन हो जाते हैं। यही उनका बन्ध सम्बन्ध है। दूसरा उदाहरण है प्रतप्त-गर्म दूध का। गर्म दूध को ठण्डी हवा बाँध लेती है। दूध और वायु के इस बन्धन से थर पृथक् हो जाती है।

योग सम्बन्ध के लक्षण—जहां अचिन्त्य स्वतन्त्र प्रवृत्तियों का कर्म में साहचर्य होने से अपूर्व द्वियोगज सृष्टि का उदय होता है और एक से दूसरा नहीं मरता उसको योग सम्बन्ध कहते हैं। **दो के योग से तीसरा उत्पन्न हो किन्तु दोनों ही अपने-अपने लक्षणों को, स्वरूप को न खोयें, उसको योग कहते हैं।** उदाहरणार्थ, पक्षी पूर्व और पश्चिम पृथक् पृथक् अपने पंखों को चलाते हैं। उससे दोनों गतियों के योगवश तीसरी समकोण उत्तर की गति बन जाती है साथ ही वे दोनों स्वतन्त्र गतियाँ भी नष्ट नहीं होतीं। इसी प्रकार हाथ से हाथ रगड़ने पर गर्मी पैदा होना, हवा की चक्र गति, योग सम्बन्ध के उदाहरण हैं। इनमें दो विरुद्ध शक्तियों से तीसरी वस्तु पैदा हो जाती है।

विभूति नामक तीसरे सम्बन्ध के लक्षण—दो के योग से जहाँ सृष्टि हो परन्तु एक मर जाय और दूसरा अमर–जीवित रहे अर्थात्एक परतन्त्र हो जाय और दूसरा स्वतन्त्र, क्योंकि परतन्त्रता ही मरण है अथवा यों कहें कि एक चलता है अर्थात् बदल जाता है, सम्बन्ध फल को प्राप्त करता है जबकि दूसरा स्थिर रहता है—सम्बन्ध फल का अनुभव नहीं करता, तटस्थ की तरह रहता है—उसमें कोई विकार उत्पन्न नहींहोता—वह विभूति सम्बन्ध है। उदाहरण स्वरूप मन, प्राण, हाथ का सम्बन्ध। जैसे इच्छा करनेपर यत्नवान् का स्थिर हाथ उठता है, अनेक प्रकार से क्रिया करता है। यह प्रज्ञानुचर प्राण का हाथ से विभूति सम्बन्ध है। प्रज्ञा अन्तर्निहित होते हुए भी अलिप्त की तरह है। क्रिया का हाथ के साथ तो पूर्वोक्त एकात्म सम्बन्ध ही होता है।

दूसरा उदाहरण—सूखी मिट्टी से ईंट नहीं बनती है, इस कारण मिट्टी को सुपेशल-नरम किया जाता है। जल तो सूख जाता है परन्तु सूत्रात्मा वायु ईंट को बनाए रखती है क्योंकि ईंट कारूप उसके अधीन है। वायु में सम्बन्ध के कारण कोई विकार नहीं होता।

तीसरा उदाहरण—वायु, अग्नि, और लोह खंड। लोहे के टुकड़े परस्पर नहीं जुड़ते। अग्नि से नरम करने पर जुड़ते हैं यहाँ भी सूत्रात्मा वायु का लोह के टुकड़ों के साथ विभूति सम्बन्ध होता है। सूत्रात्मा वायु यहाँ भी निर्विकार ही रहती है।

आधुनिक विज्ञान को सूत्रात्मा वायु का प्रवेश कितना मान्य होगा, यह कोई विज्ञान का अध्येता ही बता सकता है।

इसी प्रकार जब दृष्टि अथवा स्मृति में हाथी, घोड़े, घर, पहाड़, वन इत्यादि आते हैं तब इनका विज्ञान से विभूति सम्बन्ध होता है। जवा कुसुम, स्फटिक, तथा चन्द्र की चन्द्रिका का तथा सूर्य के प्रकाश का विभूति सम्बन्ध है।

बन्ध, योग, और विभूति के साथ ही वृत्तित्व सम्बन्ध के विषय में पूर्व में कहा गया है। इन चारों ही संसर्गों के लिए एक ही स्थान पर चारों का स्पष्ट दिग्दर्शन कराने हेतु एक सुन्दर उपमा है तृण, दुग्ध, अग्नि तथा दूध में पड़ा त्रण। इन चारों में चारों ही सम्बन्धों का दृष्टान्त मिल जाता है, जैसे सब गाय त्रण चरती है, त्रण अपने स्वरूप से नष्ट होजाते हैं, तथा एक नया पदार्थ दूध बन जाता है। यह त्रणों का बन्ध सम्बन्ध हुआ। गाय जल पीती है उसका सम्बन्ध दुग्ध के अणुओं के साथ हुआ, यह है योग सम्बन्ध। जल विलीन नहीं हुआ लेकिन दूध में द्रवत्व उत्पादित कर दिया। गाय के पेट की अग्नि से दुग्ध भाव पैदा हुआ, वह अग्नि भी दूध में है, यह अग्नि के साथ विभूति सम्बन्ध है। अग्नि केवल दूध के स्वरूप की रक्षा करती है परन्तु दूध से स्वतन्त्र है। जैसे पूर्व उदाहरणों में सूत्रात्मा वायु, वैसे ही प्रतप्त दूध में भी प्रविष्ट अग्नि कणों का दूध के साथ विभूति सम्बन्ध है। इस प्रकार दुग्ध में चारों प्रकार के सम्बन्धों का एकत्र समावेश है। संक्षेप में,

(१) तृण-दूध सम्बन्ध —बन्ध।
(२) दूध-अग्नि सम्बन्ध —विभूति।

(३) दूध-जल सम्बन्ध —योग।

( ) दूध-त्रण सम्बन्ध —वृत्ति।

इस प्रकार भोक्ता आत्मा स्वरूप-संसर्ग के कारण अनेक रूप लेती है। जैसे-रस, बल के विभूति सम्बन्ध से-अव्यय पुरुष, बल विशिष्ठ रस के पुनः बल के साथ योग सम्बन्ध से अक्षर पुरुष, बल विशिष्ट रस के पुनः रस विशिष्ट बल के साथ बन्ध सम्बन्ध से क्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। रस, बल के तारतम्य से **त्रिपुरुष** :—

अव्यय—रस प्रधान, बल गौण—मुप्त

अक्षर—रस, बल समान

क्षर—बल प्रधान, रस गौण—आवृत्त।

इस प्रकार तीनों पुरुष—**अव्यय, अक्षर, क्षर, बनते हैं।** इन तीनों पुरुषों के बल के कारण पृथक्-पृथक् शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। इन पुरुषों का इनकी शक्तियों से जो सम्बन्ध होता है उसे वृत्तित्व सम्बन्ध कहते हैं।

वृत्तित्व सम्बन्ध—जहाँ आश्रित का आश्रय से सम्बन्ध होने पर कुछ भी सृजन होकर नया नहीं बनता, जहाँ आश्रित का अपने आश्रय से सम्बन्ध तो होता है परन्तु आश्रित की गति से, कर्म से, आश्रय का कोई सम्बन्ध नहीं होता, न गति में कोई परिवर्तन होता है उस सम्बन्ध को **वृत्ति सम्बन्ध** कहते हैं। जैसे, पथिक-पंथ का सम्बन्ध तो निश्चित् है, पथिक का पथ के साथ आश्रयत्व भी है परन्तु दोनों के गति स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। आश्रय-आश्रयी भाव बना रहता है। पथिक की गति भी स्वतंत्र ही रहती है। उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। दूसरा उदाहरण **वृ**त्तित्व सम्बन्ध का है आकाश-वायु। आकाशगत वायु सर्व दिशाओं में व्याप्त होती है और वायु से यह आकाश लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार संपूर्ण बल सर्वत्र व्याप्त होकर भी रस को लिप्त नहीं करता। यही वृत्ति सम्बन्ध है।

अमृत-मृत्यु के स्वरूप त्रय का पहले विवरण दिया जा चुका है। **वृत्ति सम्बन्ध भी तीन प्रकार का** होता है—**(१) आसक्ति, (२) उदार, (3) समवाय।** इस प्रकार **छह अमृत-मृत्यु संसर्ग** होते हैं—स्वरूपत्रय युक्त वृत्तित्रय। अर्थात् **तीन स्वरूप संसर्ग और तीन वृत्ति सम्बन्ध।** ये परस्पर परिवर्तनशील हैं। यह एक का दूसरे में परिवर्तन आकस्मिक होता है, न फल के कारण, न काम के कारण। निष्कर्ष यही है कि, यह **स्वभाव से ही होता है।** "ब्रह्म-सूत्र" में भी, सृष्टि की उत्पत्ति के विवेचन के प्रसंग में, स्वभाव ही को कारण माना गया है।

"अन्यान्यमेते परिवर्त्तिताः स्युस्तेषाममीषां परिवर्तनं यत्।

आकस्मिकं तन्न फलान्न कामात् स्वभाव एवात्र परं निदानम्"

('ब्रह्मसिद्धान्त' श्लोक १२५)

उदार वृत्ति के लक्षण—इस रस वृत्ति में असाधारणता होती है । इसमें बल की निष्पन्दता, अथवा रस की लिप्तता नहीं होती । इसमें आकाश-वायु का दृष्टान्त उपयुक्त है । जल-कमल का दृष्टान्त भी उदार वृत्ति का एक दूसरा उदाहरण है ।

समवाय वृत्ति—जिस रस वृत्तिता में बल की स्थिति रस से दूर न हो अर्थात् रस, वल एकत्र स्थित हो, जिसमें अवलम्बित बल निष्पन्द होकर संचार न करे, वह समवाय वृत्ति है । जैसे, पट तन्तुओं में, अथवा मिट्टी का घड़ा मिट्टी में अवलम्बित रहता है, निष्पन्द रुद्ध होकर उससे पृथक नहीं होता, न आश्रय की हानी ही करता है, यही समवाय वृत्तिता है । यही वृत्ति द्रव्य और गुणों में होती है । जैसे द्रव्यगत गुण द्रव्य पर अवलम्बित होते हैं, द्रव्य में प्रतिष्ठित रहते हैं वे निष्पन्द-रुद्ध होने से पृथक् नहीं होते, न आश्रय अर्थात् द्रव्य को कोई हानी ही पहुँचाते हैं । उसमें कोई परिवर्तन नहीं लाते । वैसे ही रस-बल, पुरुष-शक्ति के समवाय वृत्ति सम्बन्धमें समझना चाहिए । न्याय शास्त्र में भी अवयव-अवयवी, गुण-गुणी के सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध ही कहा गया है ।

आसक्ति अथवा संगवृत्ति—जिस रसवृत्तिता में पुरुष में बल का बल से लेप हो और उसके आवरण से आत्मा के विकार हों—वह संगवृत्ति है । यथा, सैन्धव नमक और पानी । पानी में डाला हुआ सैंधव का टुकड़ा पानी में व्याप्त हो जाता है और उसमें लीन होता हुआ जल का आवरण करता है । रूपमें, रस में जल में विकार आता है । इसी प्रकार आसक्ति वृत्ति से बल आत्मबल में विकार करता है । दूसरा उदारहण है, जैसे विशुद्ध कपड़े के रंगने से सब ही तन्तु विकारी हो जाते हैं । इसी प्रकार बल के अंग लेप के कारण आसक्ति बल से आत्मा के विकार हो जाता है यह संग अथवा आसक्ति वृत्ति कहलाती है ।

उपरोक्त लक्षण और उदाहरणों से सङ्ग वृत्ति स्पष्ट हो जाती है । सङ्ग को आसक्ति कहते हैं । यथा, "संगात् संजायते कामः"—गीता । यही संसर्ग विशेष रूप से सृष्टि का कारण होता है । पुरुष स्वयं संसर्ग विशिष्ट रस ही है । माया से वह परिछिन्न होता है । उसी पुरुष-संसर्ग विशिष्ट रस में ही लेप अथवा विकार होता है । विकार पुरुष-संसर्ग विशिष्ट रस में स्थित बल में ही होता है । रस तो वहाँ भी अलिप्त ही रहता है । शुद्ध कर्मात्मा एक है । आत्म-शक्ति कर्मात्मा में उदारवृत्ति से ही सन्निहित रहती है । वह पराव्यय अपने स्वभाव से ही उदार शक्ति से प्रवेश करके नित्य ही विश्व का पोषण करता है । यह उदार शक्ति के बल से ही होता है । शुद्ध बल और शुद्ध रस के उदार वृत्ति से परस्पर संयोग से, पर अर्थात् अव्यय पुरुष का निर्माण होता है और वह अव्यय पुरुष अपनी शक्ति से सृष्टि में आविष्ट हो, प्रवेश कर, अन्तर्निहित होकर नित्य ही सृष्टि का पोषण करता है । श्रुति है—**"तं सृष्ट्वा तमेवानुप्राविषत्"** ।

समवाय वृत्ति के कारण कर्म की–बल की दो स्थितियाँ हो जाती हैं । समवाय वृत्ति से ही कार्य उत्पन्न–प्रसूत होता है । अव्यय में बल की शुद्ध स्थिति रहती है और रस की भी क्योंकि दोनों में उदार वृत्ति सम्बन्ध है न कि समवाय वृत्ति । फिर अव्यय के बल रस से अन्य बल, रस का सम्बन्ध होता है । वह समवाय वृत्ति से होता है । इस कारण बल की स्थिति में परिवर्तन होता है और बल रस में साथ एकत्र हो स्थित होजाता है । उसका यह स्वरूप समवाय वृत्ति के कारण होता

है। यहां कर्म की, **बल की दो स्थितियाँ** होगईं। पहली **अव्यय पुरुष की** और दूसरी **अक्षर पुरुष की।** अव्यय में चूंकि समवाय सम्बन्ध नहीं होता इसलिए उससे सृष्टि नहीं होती। द्विकर्मा होजाने से तथा कर्म–बल के स्वतन्त्र न रहने से यही स्थिति अर्थात् अक्षर पुरुष ही सृष्टि उत्पादन में कारण होता है। यही अव्यक्त गीता में अक्षर कहा गया है। यथा–"अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वे प्रभवन्त्यहरागमे"–गीता। साथ ही **अक्षर भी स्वयं कार्य है,** अव्यय का क्योंकि संवाय वृत्ति से कार्य की प्रसूति होती है।

उदार वृत्ति योग से अव्यय, समवाय से अक्षर और **आसक्ति से क्षर पुरुष का उदय होता है। आसक्ति वृति से ही विकार** होता है। विकार न अक्षर में है, न अव्यय में। **क्षर त्रैकर्मिक है।** उसमें रहते हुए भी वह परमात्मा–अव्ययात्मा और अक्षरात्मा असंग हैं। क्षर त्रैकर्मिक है क्योंकि वह कर्ममय–उदार, समवाय, आसक्ति वृत्तियों से उत्पन्न तीनों प्रकार की कर्मावस्थाओं की चिति विशिष्ट से उत्पन्न है। क्षर पुरुष की तीनों प्रकार की कर्म दशाओं के संयुक्त चयन के कारण विशिष्ट स्थिति होती है। **क्षर पुरुष की ही आसक्ति वृत्ति होती है।** अत: **क्षर पुरुष ही कार्यरूप विश्व है।** सब इसका ही वितान है। बल स्वरूप से ही संसर्गि है। आत्मा की प्रवृत्ति अपने स्वरूप में, स्वभाव में ही होती है। उसका किसी से कोई संसर्ग नहीं होता। सारा भेद स्वयं शक्ति और वृत्ति में ही है। उपरोक्त त्रिविध कर्म–संसर्ग ही वस्तु भेद का कारण है। परन्तु यह आत्मा, यह शक्ति, ये संसर्ग, यह सृष्टि क्रम कहां से आया–यह अज्ञेय है। ज्ञेय केवल वही है जो है। यह जैसा है वही जाना जाता है।

इसे ही अनिर्वचनीय कहाँ गया है, परन्तु वास्तव में जो कुछ जैसा है–जो ज्ञेय है वह भी अनिर्वचनीय तो है ही। वह कहां से हुआ यह तो अज्ञेय ही है। अनिर्वचनीयता और अज्ञेयता में अन्तर है।

बल–मृत्यु रस–अमृत में सर्जन करता है, प्रतिसर्जन करता है अथवा अनुसर्जन करता है, वही सृष्टिसर्ग है। मृत्यु का अमृत से–बल का रस से छुटकारा विमोक ही मोक्ष है। वह खंड की ही होती है, अखिल की नहीं। माया के नष्ट होने पर किसी भी सीमित–सीमाबद्ध रस की मुक्ति हो सकती है। सर्व सीमित की माया से मुक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्येक भाव पृथक् हैं। □

६. मायाधिकरण

हमने पूर्व में देखा कि **रस निर्विशेष है** और **बल भी निर्विशेष** । फिर रस में बल के संसर्ग से विविध विशेष:, विशेषताऐं उदित होती है । **निर्विशेष सविशेष होता है ।** यह विशेष रूप कहां से आते हैं ? कहाँ जाते हैं ? यह न जानने के कारण इसे माया कहते हैं ।

माया के तीन रूप हैं–(१) सामान्य माया (२) महती माया–महामाया और **(३) योग–माया** । कुछ लोग योगमाया को विष्णुमाया भी कहते हैं ।

स्वरूप संसर्ग के कारण रस में स्थित बल से दो विशेष–विशेषद्वय **मात्रा और संस्था** होते हैं । इन दोनों, **मात्रा और संस्था से फिर सृष्टि होती है ।**

'माया' शब्द 'मा' धातु से बना है जिसका अर्थ परिमाण, परिच्छेद, मिति होता है । बल स्वयं मित है और उसके सम्बन्ध से अमित रस में भी मिति दिखती है । इसे **'मात्रा'** कहते हैं । मात्रा से रस का जो परिछिन्न रूप दिखाई देता है उसको **'संस्था'** कहते हैं । इनके उद्भव में मिति–माया साधन है । इसलिए 'मात्रा' और 'संस्था' को भी माया कहा है । 'मा' प्रत्यय साधन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है ।

'मिति' वास्तव में रस में नहीं है, फिर भी रस में प्रतीत होती है । अन्य धर्म—अन्य धर्म में कैसे दिखता है यह नही कहा जा सकता । इसलिए भी इसे माया कहते हैं, जैसे इन्द्रजाल ।

छन्द की व्याख्या—छन्द का स्वरूप दो प्रकार का है । **(१) मात्रा छन्द (२) संस्था छन्द** । दिक्, देश, काल से जो सीमा–प्रमिति बनती है वह है 'मात्रा' और उस सीमा से सीमित होने पर जो वृत्त–आकृति बनती है वह छन्द कहलाती है । वैदिक परिभाषा में मात्रा और संस्था को ही छन्द कहा है । यथा–"माच्छन्द:, प्रमाच्छन्द:" इत्यादि यजुमंत्र ।

आचार्य श्री मधु ने 'छन्द–समीक्षा' नामक ग्रन्थ में इसका विस्तार से निरूपण किया है । छन्द शास्त्र में भी वर्ण नियम अथवा मात्रा नियम को ही छन्द कहा गया है । यह मिति ही है । इससे निबद्ध वाक् ही को वृत्त कहते हैं । यही 'संस्था' है । प्रमिति और छन्द दोनों ही का कारण 'मिति' है ।

जात्याकृति-व्यक्तिकृति तो वर्ण छन्द हैं । इससे **वर्णवृत्त** बनता है । जिसका माया कृत, वर्णकृत स्वरूप दिखाई देता है वह पुरुष कहलाता है । कृति का अर्थ है उत्पत्ति । जाति और व्यक्ति की उत्पत्ति ही वर्ण छन्द है । उससे वर्णवृत्त बनता है । वर्ण, जाति, और व्यक्ति—ये छन्द और वर्ण से बनते हैं । माया और वर्ण से उत्पन्न जो स्वरूप प्रगट होता है उसको पुरुष कहते हैं ।

मिति से छन्द, छन्द से वृत्त, छन्द-वृत्त से वर्ग और वर्णवृत्त से जाति तथा व्यक्ति—यों उत्पत्ति का क्रम बनता है । इस 'मिति' से मित होकर जो स्वरूप बनता है उसे पुरुष कहते हैं ।

मिति का प्रतिपादन कर खण्ड-खण्ड स्वरूपाकृति का प्रतिपादन तो किया परन्तु वास्तव में रस तो अखंड है। उसके खंड की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए उसका यह **मात्रा संसर्ग** अर्थ बाधा के कारण घट में स्थित आकाश की भाँति **औपाधिक** ही माना जाता है। "अर्थ-बाधा" का तात्पर्य यह है कि रस-ब्रह्म अपरिच्छेद्य-अमित है परन्तु परिच्छेद-मिति तो दिखती ही है। इसे अगर रस में—ब्रह्म में वस्तुतः माना जाय तो नित्य रस में अनित्यता का प्रसंग होगा और मूल का ही नाश होने से जगत का सर्वार्थ विनाश-'अपुनरुत्पत्ति' रूप सर्वार्थ विनाश होगा। अतः रस में खण्ड रूपता कल्पित ही है। बल—मृत्यु—क्रिया के ना-ना प्रकार के छोटे-बड़े रूप स्वयं ही उद्भूत हो जाते हैं जिससे पूर्ण, अखंड, अमृत रस सर्गरूप आवरण से खण्ड की भाँति ही लगता है।

तात्पर्य यह है कि रस एक अखंड ही है। बल-मृत्यु-क्रिया अणुप्रदेशावगाही है। अणु से भी अणु प्रदेश में उसकी स्थिति है इसलिये अणु में भी उसके अनेक रूप नजर आते हैं और इससे रस भी प्रदेशावगाही अणु, महान्त प्रतीत होता है।

यह माया उस अमित की भी मिति करने वाली है। यह आती है और चली जाती है। अखंड नित्य नहीं है। मिति ही माया है और जो मित है वह मायी ईश्वर है। उसका साम्राज्य माया मय ही है।

बल के तीन संसर्ग भेद प्रसिद्ध हैं—**बन्ध, योग,** और **विभूति**। इनसे रस में तीन तरह की संस्थाएँ बनती हैं। बन्ध क्रम से वाक्, योग क्रम से प्राण, और विभूति क्रम से मन होता है। संसर्ग भेद से तीनों ही **आत्मसर्ग** हैं। ये तीनों—**वाक्, प्राण, मन आत्मसंस्था कहलाती हैं।** यह उत्पन्न होने वाला व्यावहारिक आत्मा त्रिरूप है। यथा—"सोऽयमात्मा मनोमयः, वाङ्मयः" इत्यादि (शतपथ)। ये मन, प्राण, वाक् अव्यय पुरुष की मूलभूत कलाएँ हैं। अध्यात्म में—शरीर में भी वे ही मन, प्राण, वाक् रूप से जानी जाती हैं। ज्ञान, क्रिया, अर्थ भी ये ही हैं। सम्पूर्ण ज्ञान का आयतन-स्थान मन है, क्रियाओं का प्राण और अर्थों का आयतन वाक् है। इन्हीं अवयव कलाओं के आश्रय से क्षर पुरुष का विकास हुआ है।

सांख्य में भी भूतोत्पत्ति के प्रसंग में सबसे पहले शब्द तन्मात्रा की ही उत्पत्ति बताई है। शब्द रूपा वाक् का भी सर्वभूतमूलत्व बताया गया है। इनमें मन विभूति सम्बन्ध से है। इसमें रस का प्राधान्य है। योग सम्बन्ध से प्राण का उद्भव है। उसमें रस, बल की समान प्रधानता है। और बन्ध सम्बन्ध से वाक् का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ रस आवृत्त हो जाता है, बल ही प्राधान्य प्राप्त कर लेता है। संक्षेप में यही संस्था निर्माण है।

जहाँ सर्जन कर, उसी में फिर सर्जन कर यह मृत्यु नानात्व को प्राप्त हो जाती है। उसमें यह अभ्व आता है और जाता है। इसलिए यह **अभ्व ही महामाया है।**

जो अद्भुत है, असत् और दारुण है; जिससे आत्मा को पृथक् भाव ही मालूम होता है; जिससे आत्मा में विकार की आशंका होती है, लोक में उस अभ्व को यक्ष कहते हैं। यह अति अद्भुत है, असत् और भयावह है। इस कारण भी इससे आत्मा को भिन्न माना जाता है। इससे ब्रह्म में विकार मालूम होता है। **ब्रह्म के इस अभ्व की तीन रूप से कल्पना की है।**

भावकर्मादि-नाम, रूप, कर्मादि विवरण—

ब्रह्म में **कर्म बन्धन से रूप, कर्म** और **नाम** पैदा होते हैं । यह त्रिकूट-त्रितय अभ्व है जिसे यक्ष कहा गया है । अमृत में स्थित वह बार-बार मरता है । यह मृत्यु-कर्म-बल अमृत में स्थित होने से सर्वथा नहीं मरता और अमृत से मृत्यु और फिर अमृत—यह क्रम चलता रहता है । तात्पर्य यह है कि नाम, रूप, कर्मात्मक यह अभ्व, यक्ष, विश्व सर्वथा नष्ट नहीं होता । नाम, रूप, कर्म का केवल परिवर्तन ही होता है ।

स्वरूप संसर्गि बल ही भाव है और वृत्तित्व संसर्गिबल कर्म । जो नाम, रूप हैं वे इसके भाव हैं । मात्रा और संस्था दोनों ही रूप हैं । भाव वह जो वस्तु स्वरूप में अनुप्रविष्ठ हो ऐसा लगे । कर्म उस वस्तु की प्रातिस्विकी क्रिया है जो भी वस्तु-स्वरूप रूप जानी जाती है । रूप शब्द से केवल मात्र सफेद, काला आदि ही नहीं समझना चाहिए । किन्तु परिच्छेद, मात्रा, संस्था, परिच्छिन्न वस्तु भी रूप ही है । **नाम और रूप भाव मात्र हैं, वस्तुगत नहीं । परिच्छेद मात्र और परिछिन्न वस्तु दोनों ही रूप ही है ।**

रूप, नाम, कर्म—ये तीनों माया बल हैं । ज्योति निबद्ध बल रूप है, प्राण सम्बद्ध बल कर्म और वाक् सम्बद्ध बल नाम । मन, प्राण, वाक् आत्म संस्था हैं । वे ही बल सम्बद्ध से रूप, कर्म, नाम में परिणित होते हैं ।

यह नामादि अभ्वत्रय ब्रह्म, अव्यय-पर पुरुष और अक्षर में प्रवाह नित्य है । इसका कभी उच्छेद नहीं होता । क्षर में यह अनित्य है । जहाँ यह होता है उसे भाव कहते हैं । रस के विप्रकर्षण से उसका अभाव भी होता है ।

शब्द भाव, अभाव को लेकर न्याय में तथा अन्य दर्शनों में भी अनेक प्रकार के विकल्प प्रस्तुत कर विवेचन किया गया है । यहाँ इस पर प्रकाश डालना अनावश्यक है । वैदिक विचार धारा में उनका कोई स्थान नहीं है ।

अभ्व मर्त्य—अमर्त्य, सत्—असत् तथा दोनों भी है । पूर्व में असत् होने पर भी कारण में स्थित प्रतिष्ठा से जो त्रितय अभ्व का योग है वही उसका **भाव** है और उन नाम, रूप, कर्म का वियोग ही **अभाव** । यह मर्त्य अभ्व, भाव—अभाव दोनों ही रूप है ।

भाव, अभाव के सम्बन्ध में जैसा कि पहले कहा जा चुका है न्याय, मीमांसा, जैन दर्शन आदि में काफी कुछ कहा गया है । भगवान आ० शंकर ने भी इस माया के लिए कहा है—

"सन्नाप्यसन्ना उभयात्मिका सा" ।

भावों में जो नानाविधता है उसी को विशेष कहते हैं । एक भाव में ये अनन्त विशेष होते हैं । इससे भाव सिद्ध है । पदार्थों में भिन्नत्व नाम, रूप, कर्म कृत हैं । इसमें भिन्नत्व ही विशेष है । भेद प्रयोजक कोई पृथक् पदार्थ विशेष है यह तो कल्पना मात्र है, एक ही रस में से अनन्त विशेष भासित होते हैं । इन सबका आश्रय महासामान्य रूप रस तो एक ही है यह सिद्ध होता है ।

योग माया का निरूपण—जहाँ दो मिले हुए कर्मों की पहली दोनों प्रतिष्ठाएँ अपने अभ्व-नाम, रूप, कर्म से अपने स्वरूप से च्युत होजायें तो उसे योग माया कहते हैं। अर्थात् दो नाम, रूप, कर्मात्मक अभ्व मिलें—संयुक्त हो और दोनों ही अभ्व अपने-अपने रूप, नाम, कर्मात्मक स्वरूपों को छोड़ दें और अन्य तीसरा ही रूप, नाम, कर्मात्मक अभ्व उदय हो—यह योग माया कही गई है। नये अभ्व की प्रतिष्ठा वही रही। नये और पुराने अभ्वों की प्रतिष्ठा एक ही है।

माया त्रिधा है—साधारण माया, योगमाया, महामाया, । मिति करने वाले बल से जो बनता है वह मात्रा और संस्था है। यह साधारण माया है। नाम, रूप, कर्म के त्रिकूट अभ्व का प्रादुर्भाव करने वाली महामाया है और जो दो पदार्थों के योग सम्बन्ध होने पर रहती है वह योग माया है। यह आत्मस्वरूप को बिल्कुल ढक लेती है। श्रीमद् भगवत् गीता में इसका आवरकत्व बताते हुए कहा है—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः'' । श्री भागवत् की रासपंचाध्यायी में भी 'योगमाया' का आश्रय लेकर ही रमण किया था। आगम शास्त्र में भी माया, महामाया, योगमाया की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। □

१०. शक्त्याधिकरण—शक्ति निरूपण

वृत्तित्व संसर्गवश इस रस में अर्थात् मायादि वल विशिष्ट रस में अन्य बल का समन्वय होता है उसे अर्थात् संसर्गयुक्त बल को **शक्ति, प्रकृति** और **स्वभाव** कहा है। यह शक्ति आत्मा के भोग के अर्थ का सृजन करती है।

इस सर्ग-सम्बन्ध का स्वरूप ग्रहातिग्रह रूप है। इससे जो रूप बनता है वही आत्मा है। उसके भोग का सम्पादन करने वाला कर्म ही उसकी शक्ति मानी गई है।

अव्यय, अक्षर, क्षर और इनकी स्वभोग सम्पादिका शक्ति अन्तःस्थित कर्म है जो प्रत्येक में पृथक्-पृथक् है और इसीलिए इन तीनों आत्मन्वी पुरुषों की शक्तियां अपने-अपने कर्मानुसार पृथक्-पृथक् कही गई हैं।

शक्ति बिना पुरुष कभी नहीं होता है। पुरुष शक्ति-विशिष्ट कहा गया है। कहीं कर्मातीत अमृत पुरुष को भी शक्ति उपहित कहा है। यह आरोपित है क्योंकि अमृत में उपहित, विशिष्ट इस प्रकार का भेद नहीं है।

पुरुष का भोग उसकी शक्ति द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इसी से सम्पूर्ण अर्थमात्र पुरुषार्थ कहा गया है।

यहाँ बल-विशेष रूप शक्ति का संक्षिप्त विवरण ही दिया गया। विस्तृत विवरण अन्यत्र दिया गया है। ☐

११. पुरुषाधिकरण (पद्य)

रस, बल परस्पर आवृत्त न होने पर प्रत्येक धर्म हैं। रस धर्म से बल नामक धर्म जब मिलता है तब वे धर्मी होते हैं। यही भाव है, सत्ता है।

अमृत का मृत्यु से यह सम्बन्ध **ग्रहातिग्रह रूप** कहा गया है। ग्रह अमृत है, अतिग्रह मृत्यु। दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रहते। बल धर्म से धर्मी बना विशिष्ठ रूप जो रस है उसे पुरुष कहा है। रस, बल का सम्बन्ध अव्यतिरेकी नित्य है। उसी से यह सब है। रस धर्म आत्मा, बल धर्म आत्मा। दोनों के संयोग से बना पुरुष आत्मन्वी। इनके तीन रूप—अव्यय आत्मा, अक्षरात्मा, क्षरात्मा। पुरुष को आत्मा ही कहा है। अतः ये तीनों पुरुष भी आत्मा ही हैं। आत्मा, ब्रह्म, पुरुष समानार्थक से हैं।

पुरुष शब्द की श्रुति और युक्ति से निरुक्ति—

पुरुष शब्द की अनेक प्रकार से **निरुक्ति** की गई है।

१. पुरु—बहुधा स्यति—व्यवसति इति पुरुषः। अर्थात् अनेक प्रकार से जो क्रिया करता है वह पुरुष। 'षो' धातु में व्यवसाय–सर्ग दोनों अर्थ अन्तरभूत हैं। व्यवसाय क्रिया को कहते हैं। सबसे पहले क्रिया यहीं आरम्भ होती है और वही फिर अनेक प्रकार की होती है। इस प्रकार पुरुष शब्द निष्पन्न होता है। 'पूरुषः' छान्दस् ऋचा में दीर्घ प्रयोग है। इसलिये 'पूरुष' भी व्यवहार में आता है।

२. पुरु—बहुधा स्यति–स्वत एव अनेक रूपतां गच्छति इति पुरुषः। यहां 'षा' धातु का अर्थ गति है।

३. रुष् धातु हिन्सार्थक भी है। यथा—रुष् हिंसायाम्–दिवादि। अनेक प्रकार के रूप से भासित होना स्वयं का हनन है। अथवा जो "पुरा रसं रुष्यति स पुरुषः" अर्थात् जो रस की सबसे पहले हिन्सा करता है वह पुरुष है। **अमित रस का मितिकरण ही उसकी हिन्सा है।**

४. पूर्षु—पुरेषु रुष्यते—बध्यते इति पूरुषः–ह्रस्व पुरुषः। पुर में बंधता है इसलिए पुरुष

५. पुरा—सबसे पहले पाप्मानं–बलं औषद्–जलाया, नष्ट किया इससे पुरुष। रस बल को आत्मसात कर लेता है—यही उसका जलाना है। पुरुष की कलाओं में बल का अन्तरभाव हो जाता है—इसलिए उसे पुरुष कहा है।

६. 'वस्' धातु के संप्रसारण अर्थ से पुरुष शब्द की सिद्धि होती है।

'पुरे–शरीरे वसति स पुरुषः'—शरीर में जो रहता है वह पुरुष। इसके दो अर्थ होते हैं। १. पुरे–शरीरभूत व्यक्त–दृष्य जगत में सर्वत्र रहता है, या संप्रसारण करता है; २. पुरे–ब्रह्मपुरमें दहर में—अल्प में अथवा महान में जो रहता है वह पुरुष। यह द्वितीय अर्थ ही मुख्य है। यहाँ पुर का अर्थ बल है। उसमें वास करने के कारण रस ही पुरुष है। बल का स्वायत्तीकरण ही वहाँ वास करना है। बल को अपने परतंत्र करने के कारण रस ही पुरुष है।

अव्यय पुरुष विवेचन—वह पुरुष संसर्गी भेद के कारण तीन तरह का होता है। शुद्ध रस और शुद्ध बल समन्वित होने पर बल, रस में अन्तर निहित हो पृथक् नहीं रहता। उसके न कार्य होता, न करण होता। न उससे अधिक कोई दिखाई देता। उसकी पराशक्ति विविध है। ज्ञान, बल, क्रिया उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ हैं। वह उत्तम है और उससे उत्तम अन्य कोई नहीं है। वह पर–अव्यय है और वह शाश्वत भी है। क्षर और अक्षर दोनों से वह परे स्थित है। इसलिए दोनों को पार कर वह परम उत्तम है।

पुरुष त्रय—अव्यय, अक्षर, क्षर श्रुति प्रतिपादित हैं। गीता में भी इस त्रैविध्य को स्पष्ट किया है। ये तीन भेद संसर्ग के कारण हैं। संसर्ग भेद से ही अवस्था भेद है। शुद्ध अविकृत बल का, शुद्ध दूसरे बलों के आश्रय रस में समन्वय सम्बन्ध है। रस के भीतर बल प्रतिष्ठित है, रस का प्राधान्य है। यही पर—**अव्यय पुरुष है।**

श्रुति में कहा है–"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चावाधिको न दृष्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया च"। यह अव्यय पुरुष का वर्णन है। यह पर–पुरुष कार्यभाव और कारण भाव से अतीत है। यह न कुछ उत्पादन करता है, न किसी के उत्पादन में वस्तुतः कारण बनता है। इसमें कारणता नहीं है, न यह किसी से उत्पन्न होता है। यह केवल सर्वालम्बन रूप-सर्वाधार है। उसमें स्थित जो बलरूपा परा शक्ति है वही उसकी स्वाभाविकी शक्ति है। उसी से सब उत्पन्न होता है। ज्ञान, बल, क्रिया रूप से वह शक्ति सर्वत्र अनुप्रविष्ठ है। यही श्रुति का तात्पर्य है। इस अव्यय पुरुष का अविकृतत्व और शक्ति से ही सबकी उत्पत्ति-जनन श्रुति में निर्देशित है।

अव्यय और अक्षर दोनों ही आत्मन्वी पुरुष हैं। परन्तु **दोनों में भेद** है। अक्षर शक्ति, विभक्ति, युक्तियों से स्वरूप से अनेक प्रकार से विभक्त हो जाता है परन्तु अव्यय में विभक्ति से विभाग नहीं होता। इसलिये यह पर कहलाता है। जिसका व्यय न हो, जो परिणमन न करे वह अव्यय। अक्षर में अनेक शक्तियाँ हैं। उनके साथ वह विभक्त सा होता है। अनेकों के साथ उसका योग होता है, परन्तु अव्यय में यह नहीं होता।

अक्षर के अन्तर्गत अनेक प्रकार से अक्षर उदित होते हैं और विलीन हो जाते हैं, परन्तु अव्यय में ओर कोई होता नहीं और न कोई अन्य विलीन होता। वह शाश्वत है। "यं गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"—गीतोक्त यह 'धाम' अव्यय है।

अक्षर पुरुष का विवेचन—उपरोक्त अव्यय–माया बल विशिष्ठ, सीमित तथा प्रतीत होने वाले रस प्रधान अव्यय में जब बन्ध संसर्ग से दूसरा बल सम्बन्ध करता है—बंधता है और उसमें नवीन सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है तब वह **अक्षर पुरुष** कहलाता है। वही सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान आत्मा है। इसी से सृष्टि होती है। जैसे सुदीप्त अग्नि से सहस्रशः—समान रूप के–सरूपाः स्फुलिङ्ग उदय होते हैं, उसी अक्षर से सब प्रकार के भाव होते हैं और उसी में लीन होजाते हैं।

अक्षर और अव्यय दोनों पुरुष दिव्य, अमूर्त, अज, बाहर-भीतर मन रहित, शुभ्र और अप्राण हैं। इनमें पशुता नहीं है। "अप्राणो ह्यमना शुभ्र"—इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। मन, प्राण, वाक् तो उसके तीन प्रकार के प्राण—स्वरूपभूत ही हैं। इसीलिये उसे "अवाङ्मना" कहा गया है। यह अक्षर अचिमय, सूक्ष्मतम है। इसमें समस्त लोक और लौकिक प्राणी स्थित हैं।

अक्षर को भूतभृत्, सत्य, विज्ञान, और अनन्त, अच्युत कहा है। इसको कूटस्थ, अव्यक्त, ध्रुव, परावर, सेतु, अलक्ष और ईश्वर कहते हैं। निश्चल आकाश में वायु की तरह सब भूत मात्र ईश्वर में आश्रित ही है—उसमें स्थित है। वह अपने में स्थित सब भूतों का पोषण करता है, इसलिए उसको **भूतभृत**' कहते हैं।

इस **अक्षर के तीन भेद हैं—सत्य, विज्ञान, अनन्त।** उसका रस सृष्टिकाल में संसरण करता है, तो भी च्युत नहीं होता। सब भूत अक्षर से ही रस प्राप्त करते हैं, फिर भी अनन्त होने के कारण वह अपने स्वरूप से क्षरित नहीं होता।

सत्, चित्, आनन्द अव्यय का तथा **सत्य, ज्ञान-विज्ञान, अनन्तता अक्षर का स्वरूप** है। **यह भेद बड़ा सूक्ष्म है।**

कूटस्थ की व्याख्या—कल्पान्त में अखिल भूत संघ उस अक्षर की प्रकृति में लीन हो जाते हैं और वह अपनी प्रकृति को आश्रय बना कर कल्पोदय पर उनको फिर स्वत: उत्पन्न कर देता है। प्रत्येक भूत संघ प्रकृति के कारण अवश होकर प्रकृति में लीन हो जाते हैं। च्यूंकि ये कर्म अक्षर को नहीं बांधते इसलिए अक्षर को कूटस्थ कहते हैं। यथा—गीता में कहा है—"सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।"

कूट के **शब्दार्थ अनेक** हैं। कूट का अर्थ मिथ्या द्वारा बनाया हुआ, माया मय वन्ध यन्त्र, क्लृप्त राशि को भी कूट कहते हैं। कूट का अर्थ अग्रभाग, या शिखर और उसमें जो स्थित हो वह कूटस्थ प्रसिद्ध है। यह अक्षर माया यंत्र में, माया कल्पित भूतादि समूह में और सब के अग्रभाग में—शिखर में स्थित रहता है। इसलिये इसे **कूटस्थ** कहते हैं।

अक्षर में ही सब काल रूप वृत्ति होती है, फिर भी वह एक रूप ही है। अत: वह कूटस्थ है और वह पराव्यय से ही घनता को प्राप्त कर व्यक्त होता है अर्थात् व्यक्त की पूर्व दशा को प्राप्त होता है इससे इसको **अव्यक्त** कहा है। यथा, "अव्यक्तोऽक्षर उच्यते" तथा "अव्यक्तात् व्यक्तय: सर्वे प्रहरंत्यहरागमे" (गीता) इत्यादि।

अक्षर ध्रुव है। जितने लोक हैं सब सर्व की अपेक्षा से रजकण के समान हैं। अक्षर जितने क्षर लोक हैं उन सब को जबरदस्ती संसरण कराता है, संसरण करते हुए इन सब के भीतर स्थित वह निश्चल रहता है और अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता इससे **अक्षर ध्रुव** है।

विश्व क्षर है, अवर है। इससे परे जो विश्वातिगम है वह उत्तम पुरुष है। जो अक्षर है वह परावर है। वही सेतु है। जीव अक्षर का ही आलम्बन करके पराव्यय को प्राप्त करने योग्य होते हैं। इसलिए अक्षर को श्रुति में **सेतु** भी कहा है।

अक्षर को ही ईश्वर कहते हैं। जगत में ऐसा कोई भूत नहीं है जो अक्षर से पोषित न होकर स्वतन्त्र ही हो। वह सब में व्याप्त होकर भी अचल है और सब को पर्याप्त रस प्रदान करने में समर्थ होता है। अतः वह **ईश्वर** है।

क्षर पुरुष का विवरण—उपरोक्त अक्षर के रस में बल संसर्ग कर फिर सृष्टि—सर्ग के लिए समर्थ होता है। उससे क्षर होता है। ये पुरुषत्रय पृथक्-पृथक् प्रकार के पुरुष हैं। अक्षर पुरुष द्वारा सीमित रस में जब अन्तर बल चयन रूप से सम्बन्ध कर सृष्टि करने के लिए समर्थ होता है तब वह **क्षर पुरुष** कहलाता है। जैसे अक्षर के लिए अव्यय पुरुष उपादन कारण नहीं है उसी प्रकार अक्षर का भी क्षर के प्रति उपादानत्व नहीं है, बल्कि अक्षर संस्था तो स्वतन्त्र ही रहती है। अक्षर से अवच्छिन्न रस में बलान्तर के संयोग से इस तीसरी संस्था का प्रादुर्भाव होता है तथा रस और बल का ही सदा उपादान कारणत्व है, न कि एक पुरुष का दूसरे के प्रति कारणत्व। ये दोनों पुरुष पृथक्-पृथक् प्रादुर्भूत होते हैं।

यह सब दृश्य—अदृश्य, व्यक्त-अव्यक्त जिसे श्रुति ने 'एतद्', 'इदं सर्वम्' कहा है वह सब पर–अव्यय, अक्षर, क्षर ही है। क्षर तो कार्य है जो यह दिखाई देता है तथा जो कारण है वह अक्षर है तथा पर–अव्यय न कार्य है, न कारण।

यह सब गीता में 'क्षराक्षर विवेक' नाम से स्पष्ट निर्देशित है।

उत्तम पुरुष–अव्यय अशरीरी है। अक्षर, क्षर शरीर सम्बन्ध से होने वाले हैं। उनको **शरीर योगिनः** कहा है। अशरीरी को प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करते और शरीरियों का इनसे छुटकारा नहीं। अव्यय में सुख दुःख का स्पर्श भी नहीं है, क्योंकि यह शरीराभिमानी नहीं हैं। परन्तु क्षर अक्षर का शरीर है। क्षर स्वोत्पादित अन्य शरीर को घर की भाँति स्वीकार करता है। इस प्रकार ये दोनों—अक्षर, क्षर ही सशरीर हैं। क्षर तथा अक्षर को तो सुख दु.ख होता है। इसलिये अव्यय को पाकर ही अर्थात् उसको आत्म ही की तरह मानने से ही जीव सुख दुःख से विनिर्मुक्त होता है। जीव जब तक अव्यय पुरुष को 'आत्मौपम्येन' प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसे सुख दुःख से मुक्ति नहीं है।

भौतिक मात्र को क्षर कहते हैं। दूसरा कूटस्थ है जिसे अक्षर कहते हैं। तीसरा जो तटस्थ है उसे पर–अव्यय कहते हैं। अव्यय के लिए ही कहा है—"कुर्वन्नपि न लिप्यते।" ये तीनों ही सर्वदा अविनाभूत अव्यूढ रूप हैं।

सारे क्षर अक्षर में रहते हैं और अक्षर भी पर में निगूढ है। इसलिए तीन प्रकार से भिन्न होते हुए भी यह सारा जगत एक ब्रह्म ही कहा जाता है। सब वस्तुओं में ऊपर दिखाई देने वाला क्षरतत्व रूप है। इनमें अन्तर निगूढ़ अक्षर तत्व है और उससे भी आन्तरिक तत्त्व पर अव्यय

है । इसलिए **त्रिधा व्यवस्थित भी यह एक ही ब्रह्म तत्त्व है** जो अविनाभाव रूप से ऐक है और सब अवस्थाओं में जागता रहता है और जानता है । कहा है—"यत् स्वप्नजाग्रतसुषुप्तिमवैति नित्यम् तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः" ।

यह है **त्रिपुरुषवादात्मक अद्वैत ।** क्षर और अक्षर से जितना रूप बनता है उसको ही जगत कहते हैं । जो इस जगत से पृथक् है उसे पर—पुरुषोत्तम कहा गया है । वह पराव्यय परमेश्वर जगतातीत है ।

अव्यय पुरुष इस महान व्यक्त जगत में निवास करता है । इसलिए वह पुरुष है और इसी कारण से पुरी में निवास करने से यह अक्षर भी और यह क्षर भी पुरुष कहा गया है । **अव्यय पुरुष आदि पुरुष** कहा गया है और **अक्षर पुराणपुरुष** । जो **क्षरात्मा** है वह **यज्ञ पुरुष** है । यथा—अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर" (गीता) ।

कुछ लोग कहते हैं कि पुरुष दो ही हैं । यह सब—'**इदं सर्वम्**' क्षर और अक्षर ही है । उनसे पर जो पुरुषोत्तम है वह पुरुष नहीं है । वेदान्त में भी अक्षर और क्षर को ही पुरुष संज्ञा दी है । अक्षर को ही ईश्वर माना है । वही माया शबलित है । अव्यय तो ब्रह्म है । आचार्य मधु "पुरुष एवेदं सर्वम्" के प्रतिपादक हैं । आ० मधु का कहना है कि पर-अव्यय पुरुष के पूर्व दो धर्म-धर्मद्वय अमृत, मृत्यु रूप थे । ये पृथक् होने के कारण निधर्मक थे । इसलिए परात्पर को तो पुरुष नहीं माना जा सकता । अलबत्ता अव्यय को पुरुष कहना उपयुक्त है, क्योंकि मूलधर्मरूपतत्त्व रस, बल से विशिष्ठ यह अव्यय धर्मी ही है । जैसा कि गीता में कहा है—**"उत्तम पुरुषत्वन्यः" ।** अव्ययावस्था के पूर्व रस, बल में रस, बल से उपहित है, अव्यय में वही सम्बद्ध होकर विशिष्ट होजाता है तब वह विशिष्ट कहलाता है और विशिष्टता के कारण पुरुष । **विशिष्ट और उपाधि** में सूक्ष्म अन्तर है । उपाधि वह योग है जहाँ एक का दूसरा केवल परिचयात्मक हो । जिससे मूल वस्तु चीन्हीं जाय वह उपाधि तथा जहाँ योग स्वरूप ही बन जाय वह विशिष्ट रूप । इस प्रकार उपहित, विशिष्ट, उपाधि तीन रूप हुये ।

प्रकृति के बिना पुरुष नहीं हो सकता । प्रकृति से विशिष्ट पुरुष के लिए जो भी किया जाता है वह अर्थमात्र पुरुषार्थ कहलाता है ।

संक्षेप में—अव्यय, अक्षर, क्षर पुरुष आत्माऐं । इनसे पूर्व परात्पर । इनके अन्तरबल के योग से जो उत्पन्न होता है वह भोगमात्र, पुरुष के भोग्य होने से पुरुषार्थ ।

आचार्य मधु कहते हैं—

"बिना प्रकृत्या पुरुषो न हि स्यात् तथाविशिष्टस्यतु पूरुषस्य ।
यद्यत्प्रकृत्या क्रियतेऽत्र भोग्यं तदर्थजातं पुरुषार्थमाहुः ॥

□

१२. पुरुष प्रपञ्च (गद्य भाग)

सृष्टि दो प्रकार की है। प्रथम सामान्य सृष्टि, दूसरी विशेष सृष्टि। सामान्य सृष्टि के बिना विशेष सृष्टि नही हो सकती। इसलिये प्रथम उसी सर्वभूत साधारण की व्याख्या की जाती है।

बृंहण्-विस्तार बल जिस रस में हो वह बृंहण्बलरस **ब्रह्म हैं**। वह त्रिधा होता है—**चित्, चेतना,** और **चित्य**। जहाँ इन सब बलों की बलों के साथ चितियाँ होती हैं वह **आवपन-चिद् ब्रह्म** है। यह सर्वादिभूत सर्वाधार है। वहीं प्रादुर्भूत बल क्रम से घनी होता है—जमता है। (चुणाई–चिनाई) होती है। जिससे ये चितियाँ होती हैं, वह **चिति प्रयोजक चेतना ब्रह्म** है। चित् प्रयोजक का अर्थ है **सृष्टिइच्छा विशिष्ट ब्रह्म**। ये ही अव्यय आदि तीन पुरुष-पुरुषत्रय हैं। अन्य अन्य का अंग होते हुए जो धनीभूत होते हैं—चयनित होते हैं, वह **चित्य ब्रह्म** है। **चित् रस प्रधान** है। **चेतना समबलरस है**। **चित्य बल प्रधान** है। चित् ब्रह्म **अव्यय** है। चेतना ब्रह्म **अक्षर** है। चित्य **ब्रह्मक्षर** कहा गया है। समन्वित रूप यह त्रितय एक रूप है। तथा क्षर और अक्षर से अविनाभूत अव्यय ब्रह्म के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग होता है। श्रुतियों में सम्मिलितत्रितय के लिए 'पुरुष' शब्द का प्रयोग बहुधा आया है। किन्तु कहीं 'समुदाये प्रवृता: शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्त'—न्याय से इनमें से प्रत्येक भी पुरुष ही कहे गये हैं। इस प्रकार के सात पुरुषों से जिसका रूप निर्मित हुआ है ऐसे एक ही पुरुष के लिए **प्रजापति** शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण के छठे कांड में वर्णित पुरुष के अवस्थान सात प्रकार के कहे हैं। प्राणमय पुरुष सर्वत्र ही स्वयं को सात आयतनों में विभक्त कर प्रतिष्ठित होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मवल्ली में कहे गये अव्यय पुरुष के पाँच विभाग—शिर, दो पक्ष, आत्मा, पुच्छ माने गये हैं। ये अव्यय पुरुष की कलाओं के विभाग हैं। किन्तु यहाँ शिर को पृथक् करके और आत्मा को चतुर्धा विभाजित कर मध्यभूत देह के सात विभाग बताये हैं। इनको शतपथ में प्राण सामान्य के विभाग बताये गये हैं। इसके ये चारों पुरुष आत्मा हैं। दो पक्ष हैं। एक पुच्छ-प्रतिष्ठा है। ये सातों ही प्राण हैं। और इन सात पुरुषों की जो श्री है, जो रस है वह उसका सिर मनोमय है। सातों ही प्राणों का सार भाग पृथक् से ऊपर जाता है—यह शतपथ में कहा गया है। इस सिर में मन प्रधान होता है।

यहाँ एक अभिसन्धि-रहस्य यह है कि—यह जो पहले त्रिधातु पुरुष कहा गया है, वह निश्चय ही अनियत, कम-ज्यादह पंच जातीय क्षर प्राणों से, पाँच अक्षर प्राणो से और एक पंच धातु अव्यय से ही बना हुआ है तथा सर्वदा ही अपने रूप का निर्माण करता है। तीनों पुरुषों की, प्रत्येककी पांच-पांच कलाऐं होती हैं। उनका वर्णन विस्तार से अन्यत्र किया गया है। **संक्षेप में**—उपरोक्त पुरुषों में अव्यय कलाऐं कोशभूत होती हैं। इनमें भेद नहीं होता। क्षर और अक्षर कलाऐं विभक्त होकर अल्प मात्रा और अधिक मात्रा में होती हैं। पहले क्षर से ही प्रारम्भ किया जाता है। उन-उन वस्तुओं के विशकलन में उन्हीं का पहले परिचय मिलता है। इनमें मुख्य **क्षर कला–प्राण, आपः, वाक्, अन्नाद,** और **अन्न** शतपथ ब्राह्मण में छठे कांड के आरम्भ में ही बताई गई हैं। उनमें प्राण सबका विधारक है। "बल विधारणे प्राण शक्ति"—यह आ॰ मधु ने अनेक बार कहा है। वही प्राणशक्ति ऋषि, पितृ, देव, मनु, गन्धर्व रूप से विभाजित होती है। इसका आधार पहले त्रयी विद्या होती है

और उसके द्वारा ही अप् की उत्पत्ति है—यह शतपथ ब्राह्मण में कहा है। स्थूल भूतों की प्रथमावस्था वाक्, अन्नाद अग्नि, और अन्न सोम है। ये पांचों क्षर रूप में परिणित होकर सब जगत को उत्पन्न करते हैं। उक्त पाँच कलाऐं अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत भेद से परिणत होती हैं। इनमें **क्षर कला के जो अध्यात्म में नाम** होते हैं वे हैं—**बीज चिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा, वित्त।** ये पंचक्षर हैं। बीज चिति को कारण शरीर कहते हैं, देव चिति सूक्ष्म शरीर हैं, और भूतचिति स्थूल शरीर। ये सब मिलकर मुख्यात्मा के परिकर होते हैं। **यह समुदाय ही व्यावहारिक आत्मा है। वित्त पर्यन्त व्यावहारिक आत्मा की व्याप्ति है।** अतएव तम प्रधान मलिन आत्मा का वित्त भी सात्विकों के पतन का हेतु माना जाता है। **अधिदैव क्षर कला हैं—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र।** ये पांच मण्डल हैं। इनका समुदित-संयुक्त रूप ब्रह्माण्ड है। ये पांच मण्डल अनन्त विश्व की एकाकी शाखा को श्रुति में बल्शा कहा है। और ये ही **अधिभूत में आकाशादि पाँच भूत** रूप हो जाती हैं।

अविधा, काम, कर्म्म, वीर्य, शुक्र ये **पाँच बीज चितियां** हैं अध्यात्म में जिन तीन चितियों का–क्षर की कलाओं का उल्लेख ऊपर हुआ है, उन प्रत्येक के ये पाँच-पाँच प्रकार—भेद हैं। अविद्या सर्व बीज है जो योग और वेदान्त दर्शन में विभिन्न प्रक्रिया से विस्तार से वर्णित की गई हैं। तज्जनित मनोविकार रूपा काम हैं। उससे संपादित शारीरिक क्रियाऐं कर्म हैं। वीर्य और शुक्र का वर्णन आगे किया जायेगा। इन सब से मिलकर कारण शरीर बनता है। इसका प्रलय में भी नाश नहीं होता। इनका नाश केवल ज्ञान से होता है। उसका वियोग ही मुक्ति है।

अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र, सोम—देवचिति हैं। **आकाश, वायु, तेज, अम्बु, पृथ्वी—**ये **भूतचिति** हैं। सन्तान, प्रजा और वित्त परिग्रह है।

अग्नि-सोम दोनों देव हैं। **अग्नि के तीन विभाग हैं–अग्नि, वायु, आदित्य।** पृथ्वी में अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु, और द्युलोक में आदित्य। यह निरुक्तादि में स्पष्ट किया है। **सोम** भी **दो प्रकार** का है—**भास्कर सोम** और **दिक् सोम।** इनमें चन्द्र भास्कर सोम है। दिक् सोम को सोम ही कहा गया है। कहीं कहीं यह दिक् शब्द से भी कहा गया है। इनसे मिलकर सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होना श्रुति कहती है। यथा—"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राबिशत्, आदित्यश्चक्षु भूत्वा अक्षिणी प्राबिशत्" इत्यादि (ऐतरेय, १ अ. २ ख.)। अहंकार रुद्ररूप से वायु ही है।

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम—ये पांच अक्षर हैं। ब्रह्मा प्रतिष्ठा है, विष्णु यज्ञ है, इन्द्र इन्धन है। तेजन, स्थूल का तीक्ष्णीकरण, अवयव स्फोट अग्नि है। स्नेह, अवयव संकोच, घनीभाव सोम है। ये पाँचों विभाग आमोद-प्रमोद, ज्ञानविज्ञान, चेतना शक्ति, सब प्रकार के प्राण, और वाक् का अवरोध करने के लिए पाँच कोश हैं। ये सब विभक्त हो इस अपव्यय में स्थित हैं।

परात्पर उनमें षोडशी कला है। इस प्रकार वह षोड़शकल पुरुष षोडशी है। कौ. ब्रा. १६/४ में कहा है—**"षोडशकलंवा इदं सर्वम्"।** इनमें यह अव्यय न कारण है न कार्य। अक्षर निमित्त कारण है और क्षर तो समवायिकारण है, यह परिणत हुआ कार्यमात्र है। ये इनके विभाग हैं।

अक्षर पुरुष की पांच कलाओं का विवरण निम्न है—इस संसार में सब ही पदार्थ परिणामी हैं—यह सब ही दार्शनिक निरूपण करते हैं। कुछ अन्य से ग्रहण किया जाता है, कुछ परत्र-अन्य स्थान में संक्रमण करता है—इस प्रकार **ग्रहण और परित्याग अर्थात् आदान-प्रदान ही परिवर्तन कहा गया है।** जैसे दीप तैल से स्नेह अनुक्षण ग्रहण करता है और पास के पदार्थों में प्रकाश का संक्रमण करता है—प्रकाश देता है। यह प्रकाश सब जड़ पदार्थों में अनुस्यूत होकर दृढ़ता देता है, प्रकाश के अभाव में भींत आदि शीघ्र ही जीर्ण दिखने लगती है। और चेतन पदार्थों में यह ज्ञान दीप्तिदान में सहकारी होता है। प्राणि शरीर भी बाहर से अन्न, पान आदि ग्रहण करते हैं और मल आदि का त्याग। वृक्ष लता भी जल, रस आदि गृहण करते हैं, छाया, फल आदि देते हैं। इन सबमें ग्रहण, त्याग आदि स्पष्ट अनुभव में आते हैं। **आदान बहुत हो और प्रदान कम हो तो वृद्धि होती है, आदान कम और प्रदान अधिक तो क्षय**—जरा होती है। वस्तुत: तो सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सर्वत्र ही जड़-चेतनों में यह आदान-प्रदान की क्रिया चलती ही रहती है। अतएव थोड़े अथवा बहुत समय में प्राणों के अनुसार वृद्धि और जीर्णता नजर आती है। वृक्षादि और प्राणियों के शरीर में वृद्धि और ह्रास दोनों स्पष्ट दिखाई देते हैं। यह सब—'इदंसर्वं' वैश्वानर प्राण के कारण होता है। वृद्धि-ह्रास तो खनिज पदार्थ—लोह, पत्थर आदि तथा पर्वतादि में भी होता है। यह वृद्धि-ह्रास यकायक नहीं होता। क्षण-क्षण यह क्रम चलता रहता है। प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु अन्य से कुछ लेती है और कुछ अन्यत्र देती है। फिर भी वृद्धि, ह्यास निरन्तर होते रहने पर भी वस्तु की **प्रत्यभिज्ञा** सर्वत्र ही रहती है और यह प्रत्यभिज्ञा **प्रतिष्ठा** के कारण है। इस प्रकार प्रतिष्ठा भी सर्वत्र ही रहती है—यह मानना होगा। यह **प्रतिष्ठासम्पादकप्राण ब्रह्मा है, अन्य से ग्रहण ही यज्ञ है उसका सम्पादकप्राण यज्ञमय विष्णु है।** अन्य स्थान पर स्वात्मभूत द्रव्य के संक्रमण को इन्धन कहा गया है। उसका सम्पादकप्राण **इन्द्र** कहा गया है। परोक्ष विधि से इन्धन के ही कारण उसको इन्द्र कहते हैं। कहीं ब्राह्मण ग्रन्थों में, यह सबको द्रवित करता है—द्रावयति, अन्यत्र प्रेरित करता है इसलिए 'इदन्द्र' ही इन्द्र कहा गया है परोक्षविधि से। ये तीनों प्राण अक्षर के अवयव हैं, सब वस्तुओं की नाभी-केन्द्र में रहते हैं इसलिए **नभ्य** कहलाते हैं। इन्द्र से बाहर निकलते हुए प्राणों से पृष्ठ नामक धरातल बनती है। उसका सम्पादन करने वाले अग्नि, सोम हैं। इनसे ही जगत बनता है। ये अग्नि सोम इन्द्र के सहचर-साथ रहने वाले हैं, क्योंकि प्राणों को बाहर फैंकने वाला इन्द्र स्वयं भी बाहर पृष्ठ पर्यन्त जाता है। वहीं अग्नि सोम का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिए तीनों का सम्मिलित यह रूप, इन्द्राग्नि सोम समष्टि भूतरूप, पौराणिक परिभाषा में महेश्वर कहा गया है। तीनों के समष्टिरूप से महान होने के कारण महेश्वर और त्रिदेव रूप होने के कारण त्रिनयन भी कहा जाता है। महेश्वर स्तुति में कहा है—"वन्दे सूर्यशशाङ्कवह्नि नयनम्।" इसमें सूर्य इन्द्रप्राण प्रधान है। यथा—"यथाग्नि-गर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" (बृहदा० ८ अ० ४ प/.२१क) शशाङ्कचन्द्र–सोम है। अग्नि स्पष्ट है। इस प्रकार त्रिनयन रूप से त्रिरूपता कही गई है। स्वगत प्राणों का अन्यत्र उपसंक्रमण ही रोदन है। इस कारण ही इसे रुद्र कहते हैं। अग्नि और सोम-षोम पशु हैं। ये दोनों इसके वश में हैं—इसलिए इसे पशुपति कहा गया है। जो यह स्वभूत-अपना प्राण बाहर जाता है उसकी पूर्ति करने वाला पूरक होने से अपने स्वरूप का रक्षक होने के कारण विष्णु पालक है। स्वभूत प्राण का प्रक्षेपक –बाहर फैंकने वाला होने के कारण इन्द्र संहारक कहा गया है।

प्रतिष्ठा ही वस्तु का सत्व है। इसका सम्पादक होने के कारण ब्रह्मा जनक है। किन्तु वास्तव में तो **ये सब ही विविक्षा भेद से जनक, पालक और संहर्ता हैं।** इसीलिये ये तीनों ही ईश्वर कहे जाते हैं। ये तीनों ईश्वर नभ्य हैं, और शेष दोनों पृष्ट्य जगत हैं—इस प्रकार इन पाँचों ईश्वरों से ही सारा जगत व्याप्त है।

आचार्य मधु ने इन सब के तत्व की शारीरिक विमर्श में और गीता विज्ञान भाष्य के आचार्य कांड में विस्तार से व्याख्या की है। 'ब्रह्म समन्वय' ग्रन्थ के आत्मकांड में भी आचार्य मधु ने इन तत्त्वों का अच्छा स्पष्टीकरण-व्याकरण किया है। यहाँ केवल संक्षेप में कहा गया है। अव्यय पुरुष की पंच कलाओं का पंचकोश रूप से विवरण तैत्तिरीयोपनिषद् में किया गया है। जगत में जो ये आनन्दादि अनुभव में आते हैं उनका ये कोश ही निधान स्थान हैं। ये ही जगत में आनन्दादि का प्रसार-प्रचारकरते हैं। अव्यय पुरुष इनका सबका निधान है।

नामविशिष्ट रसरूप जिस परात्पर का उल्लेख ऊपर हुआ है, जिससे अनन्तर पुरुषों का प्रादुर्भाव होता है उसमें कला नहीं है। इसलिए वह एकरूप ही गिना जाता है। सर्वविशिष्ट का जब निरूपण किया जाता है तब उसको भी एक कलारूप से गिना जाता है।

सारे क्षर विकार अक्षर से ही पैदा होते हैं। ये **अक्षरप्राण पञ्चजातीय** हैं जो **ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम,** नाम से जाने जाते हैं। इनमें मध्यम प्राण इन्द्र है। श्रुति है—**"एकैको वै जनतायामिन्द्रः"** (तै० ब्रा० १/४/६) वही अन्य प्राणों को इन्द्रिय से इन्ध करता है—ignite करता है। वह अन्य सात प्राणों को पैदा करता है। उन्हीं सात पुरुषों से वह पूर्व निरुक्त अतिष्ठावा पुरुष गर्भी होता है। निश्चय ही यह पुराण पुरुष इन सात यज्ञ पुरुषों में अवारपारीण अभिव्याप्त है।

सर्वव्यापक, सर्वजगत् का अतिक्रमण कर स्थित, पुरुषसमष्टिरूप पुरुष अतिष्ठावा है। उपरोक्त सप्तपुरुष उसके गर्भभूत अन्तस्थित हैं। उनको यज्ञ पुरुष कहते हैं। किन्तु जो सबमें व्यापक है वह पुराण पुरुष है।

इनमें जो नाभी से ऊर्ध्व-ऊपर जो दो हैं वे और जो दो नाभी के अवांग, नीचे हैं वे—ये चारों पुरुष आत्मा हैं। जिस शरीर भाग के होने पर शरीरी का सत्त्व क्षय नहीं होता वह अङ्गी पुरुष अङ्ग पुरुषों का आत्मा है। लेकिन जिनके विनाश पर भी वस्तुतः सत्त्व नष्ट न हो उन अंगों को पक्ष, पुच्छ जानो। इसलिए आत्मा के अन्य दो पुरुष पक्ष हैं।

ये कुंचन और प्रसारण दोनों विक्रम के हेतु—कारण हैं। और पुच्छ एक है—यह प्रतिष्ठा प्राण है। जिसके कारण यह शरीर पृथिवी से अनुगृहीत, पृथिवी जन्य तथा तदाकार दिखाई देता है वह प्रतिष्ठा प्राण है।

यहाँ पृथिवी उपलक्षण है। हमारा शरीर पृथिवी व्यष्टिभूत, पृथिवी जन्य है—इस प्रकार उसके प्रतिष्ठा प्राण से पृथिव्य ही का सम्बन्ध होता है—इसीलिए पृथिवी शब्द का प्रयोग

किया गया है। अपनी समष्टि से अपने जनक का सम्बन्ध संस्थापक प्राण पुच्छ–प्रतिष्ठा कहा गया है।

इस प्रकार सात पुरुषों से जिसके स्वरूप का निर्माण हुआ है वह एक पुरुष है, वह चित्याग्नि है। वह प्रजापति है। उसमें इन चीयमान-एकत्र हुए सप्त पुरुष का नाम चित्य–शरीर है। और जो इन सप्त पुरुषों की श्री–रस था वह ऊपर चढ़ गया। वही यह चितेनिधेय अग्नि है। वह इसका सिर हुआ। उसमें सब देवताश्रित–आधारित हैं इसीलिए सब देवों का हवन किया जाता है।

इस प्रकार से सप्तधा विभक्त प्राण का अवस्थान हमारे शरीर में भी पाया जाता है। मनुष्य शरीर में चार गुहा हैं। शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, और बस्तिगुहा। प्रत्येक गुहा में इन्द्रिय रूप से सात प्रकार से विभक्त प्राण पाये जाते हैं। इनमें शिरोगुहा सबही शरीर की श्रीरूप–साररूप देवों द्वारा प्रकाशित इन्द्रियों का मूल स्थान है। वहाँ भी प्राणों के सारभूत सात प्रकार के अवस्थान हैं—बाहर निकलते हुए पक्षस्थानीय दो कान, दो आँखें, दो नासिकाछिद्र—यों चार आत्म-स्थानीय, दों पुच्छस्थानीय प्रतिष्ठारूप तथा एक मुखछिद्र। इन सातों श्रीभूतों की भी श्री ब्रह्मरंध्र है जिसका सूर्य के साथ सम्बन्ध है। इसीलिये आर्य लोग सर्व श्रेष्ठता बताने के लिए ध्वजारूप शिखा रखते थे।

प्रथम पुराण पुरुष आधार है। वह इन सातों पुरुषों का आवपन रूप है। इसलिये उसमें सबका एकीभाव है। उसको वयोनाध पुरुष कहते हैं। वहां ये सातों पुरुष वयांसि हैं। ये सातों चित्याग्नि एक शरीर है। उसके आधार पर स्थित सातों श्रियाँ विधेयाग्नि पुरुष हैं। वह आहवनीय है। इस प्रकार इन वायोनाध पुरुष, वयपुरुष, आहवनीय पुरुषों से अथवा अतिष्ठावा अग्नि, चित्याग्नि, निधेयाग्नि से कृतरूप पुरुष के लिए प्रजापति शब्द निरूढ़ है।

वयांसि और वयोनाध—यह वैदिकी परिभाषा के शब्द हैं। जहाँ अनेक इकट्ठे होकर स्थित होते हैं वह वयोनाध है। यह पंजर स्थानीय है। जहाँ एकत्र होते हैं वे वयांसि हैं। उक्त सातों पुरुष पुराण पुरुष में एक होते हैं, इसलिए पुराण पुरुष वयोनाध है तो यज्ञ पुरुष वयांसि।

वयोनाध पुरुष, वय पुरुष, हवनीय पुरुष तथा अतिष्ठावाग्नि, चित्याग्नि, निधेयाग्नि पर्याय हैं। जो वयोनाध पुरुष है वही अतिष्ठावाग्नि है, जो वय पुरुष है वह चित्याग्नि और जो हवनीय पुरुष वह निधेयाग्नि है। सबका समवाय–एकत्ररूप प्रजापति कहा जाता है। प्रजापति दो प्रकार के हैं—नभ्य प्रजापति, सर्व प्रजापति। प्रकारान्तर से श्रुति में प्रजापति की परिभाषा दो प्रकार से की गई है। 'प्रजा:' को पृथक् करके उसका अधिष्ठाता प्रजापति–यह एक परिभाषा। प्रजा का भी स्वरूप में ही अन्तरभाव करके 'प्रजा सहित: पति: प्रजापति: सर्व: प्रजापति:'—यह भी श्रौती परिभाषा है। प्रजा भी तज्जन्य ही है, उससे पृथक् नहीं है वरन् उसके स्वरूप में ही प्रविष्ट है। शरीर का अधिष्ठाता केवलात्मा प्रजापति है और शरीर विशिष्ट आत्मा भी प्रजापति है। यही इसका तात्पर्य है। इनको पृथक्-पृथक् गिनो तो ये सप्त पुरुष प्रजा अथवा शरीर हैं। त्रिपुरुषात्मक एक पुरुष प्रजापति आत्मा है। जब सर्वपुरुष का निरूपण किया जाय तो सब सम्मिलित प्रजापति हैं। उत्पन्न होने वाले अन्यों की तो यह समष्टिभूत प्रजापति ही आत्मा है।

यह प्रजापति सब भूत सृष्टियों में बीज रूप है। इस अव्यय, तथा क्षराक्षर से सम्पन्न प्रजापति बिना कहीं भी, कोई भी भूतसृष्टि होना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। श्रुति है—

"एष वै प्रजापति र्यं एष यक्षस्तायते। यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाताः। एतम्वेवाप्येतर्ह्यं नु प्रजायन्ते" (शत० ४/२/३/१६) इति ॥ (शत० ४/४/८/१ एष ह वै प्रजापतिः सर्वंकरोति ॥" (शत० १३/२/६/१) ॥ इत्यादि।

यह प्रजापति उस समय तक परात्पर ही है जब तक इसमें त्रयी विद्या-ब्रह्म का आविर्भाव नहीं होता। विद्या-ब्रह्म के न होने की दशा में उसका दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न परात्पर से अनन्यत्व होने के कारण पृथक्ता का कोई कारण नहीं होता। स्वभावतः यह सबसे पहले अपने में ब्रह्म—त्रयी विद्या की ही सृष्टि करता है।

पूर्व में प्रलयावस्था में बल के प्रस्तुत होने पर एक ही अद्वितीय रस था जिसे ब्रह्म कहा गया है। किन्तु बल के जागरित होने पर बल विशिष्ट रस को श्रुति में परात्पर कहा है। इसे वेदान्त दर्शन में विशिष्ट ब्रह्म नाम से कहा गया है। उससे अनुक्रम से पुरुषत्रय का आविर्भाव होता है और फिर सप्त यज्ञपुरुषों का आविर्भाव होता है।

जिस परात्पर को बल विशिष्ट रस कहा गया है उससे किस प्रकार पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, परात्पर की अपेक्षा से पुरुष से क्या विशेषता है जिससे उसका पृथक् नाम पड़ा इसका आचार्य मधु के अन्य ग्रन्थों में विस्तार से विवेचन किया गया है। **संक्षिप्त** में उसका भाव है कि—

आविर्भूत बल स्वयं परिच्छिन्न होने के कारण विभु रस को भी परिच्छिन्न दिखाता है। मिति का साधन-कारण होने से वह बल माया कहा जाता है। इस प्रकार परिच्छिन्न, अनन्त, पुरुष नाम से कहे जाने वाले प्रादुर्भूत तत्त्वों में एक-एक परिछिन्न तत्त्व दूसरे को आत्मसात करने के लिए उठते हैं, क्योंकि यह प्राकृतिक नियम है कि जो अपरिच्छिन्न है वह परिच्छिन्न होने पर अपरिच्छिन्न की तरह अपने स्वरूप को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ—'जैसे, बड़े जलाशय का पृथक् करके रोका हुआ जल सेतु को तोड़कर अपने मूल जलाशय से मिलने को भागता है, जैसे हमारे शरीर में निरुद्ध सौर प्राण ब्रह्मरन्ध्र से निकलकर, निरन्तर सूर्य की ओर जाता है अथवा जैसे, अन्तःकरण से परिच्छिन्न हमारा जीव स्वभाव से ही उपाधि को छोड़ भूमरूप प्राप्त करने के लिए मुक्ति की इच्छा करता है इत्यादि। यही प्राकृतिक-स्वाभाविक नियम **'अशनाया'** कहा गया है। इसी स्वाभाविक नियम के कारण परिच्छेदगत तत्त्व जितने में वह व्याप है उससे भिन्न को सबको अपने में समावेश कर विभुता प्राप्त करने के लिए उठता है। उसके इस उत्थान को श्रुति में **उक्थ** कहा गया है—**'उत्थमेवोक्थम्'** इस निर्वचन के अनुसार। प्रदेश व्यापन रूप चरण को **'अर्क'** कहा गया है। यथा, **"सोऽर्चन्नचरत्"**। **"अर्चतो वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कस्यार्कत्वम्"** इत्यादि। (बृहदा० १ अ. २ ब्रा०) और जिस अपर-दूसरे तत्त्व को आत्मसात् करता है उसे **'अशिति'** कहा है।

इसी **उक्थ, अर्क, अशिति को वैज्ञानिक भाषा में वेद कहा गया है।** इन वेदों से ही पुरुष स्वरूप सम्पन्न होता है। यही परात्पर की अपेक्षा से पुरुष विशेष में वेद का प्रादुर्भाव है। ये ही **अपौरूषेय वेद** हैं, क्योंकि इनका पुरुष के पादुर्भाव होने से भी पहले प्रादुर्भाव हुआ है। ब्रह्म के स्वभाव से ही ये प्रादुर्भूत हुए हैं इसलिये ये ही **ब्रह्म के निःश्वासभूत हैं।** और अव्यय पुरुष की पाँचवी कला जिसे वाक् कहा गया है उसका आश्रय लेकर ही इन वेदों का स्पष्ट रूप प्रकट होता है, इससे पहले तो ये अव्यक्त स्थिति में ही थे। इससे ही वेदों को 'वाग् विवृताः' कहा गया है। इनकी वाक् रूप से एकता है, इसलिए वाग्रूप एक ही वेद है। किन्तु उक्थ आदि रूप से तीन भेद हैं। इनमें **उक्थ ऋग्वेद है, अर्क यजुर्वेद** और **अशिति सामवेद।** ये ब्रह्मनिःश्वसित वेद हैं। श्रुतियों में बहुधा अर्क को अग्नि और अशिति को व्रत कहा गया है। ये वेद सर्वत्र व्याप्त हैं।

वेद त्रिरूप हैं—(१) रसदेव, (२) विज्ञान वेद, (३) छन्द वेद। इनका सूर्य मण्डल में स्पष्ट प्रादुर्भाव होता है। वेद "गायत्री मातृका" कहे गये हैं।

"विद्" धातु का ज्ञान के अर्थ में प्रयोग होता है। यद्यपि ग्रन्थ विशेष वेद का शब्द-ज्ञान जनक ही होना लोक में प्रसिद्ध है, परन्तु वैदिक परिभाषा में जो वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान कराते हैं वे भी वेद ही हैं।

पिण्ड रूप वस्तु एक ही स्थान पर रहती है। दूर होने के कारण हम उसे देख नहीं सकते। पहले कुछ विद्वान यह मानते थे कि चक्षु ही बाहर निकलते है। यह ठीक नहीं। आधुनिक वैज्ञानिकों का यह मानना है कि उस वस्तु को स्पर्श करने वाली हमारे नेत्रों की प्रकाश किरणें ही आकर उस वस्तु का ज्ञान कराती हैं—यह भी ठीक नहीं है। वैदिक सिद्धान्त यह है कि उस वस्तु के केन्द्र के भीतर रहने वाले प्राण अपनी शक्ति के अनुसार प्रकाश किरणों के साथ चारों तरफ दूर देश पर्यन्त फैलते हैं और वे ही चक्षुओं से सम्बन्ध कर उस वस्तु का ज्ञान कराते हैं। ये प्राण अग्नि-प्रभव, अग्नि रूप हैं अतः इनको अग्नि ही कहा गया है। यह भौतिक अग्नि नहीं है। अपितु यह अक्षर पुरुष की कला रूप है। जितनी उस वस्तु के प्राणों की व्याप्ति है उतने प्रदेश के अन्तर्गत ही वह वस्तु देखी जा सकती है बाहर नहीं। प्राण अपनी शक्ति के अनुपात से कम ज्यादा स्थान तक पहुंचते हैं, जैसे सुई पास होने पर ही दिखाई देती है, और पर्वत दूर हो तो भी दिखते हैं। इनमें उस वस्तु की पिण्डात्मक मूर्ति को ऋक् कहा गया है। ऋक् रूप प्राण ही सारी मूर्तियों का निर्माण करते हैं। उन-उन प्राणों का अन्तिम मण्डल साम और मध्य में व्याप्त प्राण वैदिकी परिभाषा में "यजु" कहे गये हैं। यथा—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यंह शश्वत् सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥

(तै० ब्रा० ३/१२/९/१–२)

और सूर्य को लक्ष कर कहा गया है कि—

"यदेतन्मण्डलं तपति तन्मतोक्थम्, तात्रृच:, सऋचां लोक:। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोक:। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष:, सोऽग्नि:। स हि यजूंषि, सयजुषां लोक:। सैषा त्र्य्येव विद्यातपति।" (शतपथ)

ये वितत्तन रूप होने से **वितानवेद** हैं। उक्थादिरूप जिन मूलभूत ब्रह्मनि:श्वसित वेदों का उल्लेख ऊपर हुआ है उनका उल्लेख भी शतपथ में महोक्थ, महाव्रत, अग्नि आदि शब्दों से भी किया गया है। पूर्व में यह कहा गया है कि ये वेद सूर्य में स्पष्ट रूप से व्यक्त होते हैं, इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका वर्णन सूर्य को ही आधार बनाकर किया गया है। इसी दृष्टान्त से सर्वत्र ही इनकी व्याप्ति समझना चाहिये। सूर्य ही से सब वस्तुओं में इनकी व्याप्ति है। अन्य प्राणियों के उक्थ सूर्य को तो सबसे बड़ा होने से महदुक्थ कहा गया है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं में जो सामव्रत कहा गया है वह सूर्य में महाव्रत कहा गया है। अर्क को अग्नि कहा गया है ऋक् साम में वयोनाध रूप आयतन में जो वयो रूप मुख्य तत्त्व व्याप्त है वह यजु: ही है। इसे ही शतपथ ब्राह्मण में पुरुष कहा गया है। यत् और जू: इन दो शब्दों से यजु: बना है। यत् का अर्थ चलनशील वायु है और जू से तात्पर्य स्थितिशील आकाश से है। ये ही दोनों सब के जनक हैं।

यही वेद त्रयी--उक्थ, अर्क, अशिति अथवा ऋक्, यजु: साम हमारी प्रतिष्ठा है। यही प्रथम सृष्टि है। कहा है—"ब्रह्माऽस्य सर्वस्य प्रथमजम्।" ब्रह्माऽस्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति"। वेदत्रयी में ही सबसे पहले मूलभूत ब्रह्म प्रतिष्ठित हुआ, इसलिए वेदत्रयी ही प्रतिष्ठा है।

ब्रह्म—त्रयीवेद—विद्या पर्याय—समानार्थक शब्द हैं। यथा—"त्रयं ब्रह्मसनातनम्"—मनु, "सैषा त्रयीविद्या तपति," "त्रयोवेदा" इत्यादि। इन त्रयी ब्रह्म—वेद—विद्या से युक्त एक प्रजापति एक यज्ञ है। यथा,

"प्रजापतिर्वा एष वितायते यद् यज्ञ:"। (तै० ब्रा० १/४/६)
"एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञ स्तायेे"। (शत० ४/४/८/१)

आ० मधु ने अपने ग्रन्थों में यज्ञ की परिभाषा विस्तार से दी है। संक्षेप में **यज्ञ की परिभाषा** निम्न है :—

मनुष्यों द्वारा जो यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं उनका सपरिकर विस्तृत वर्णन ब्राह्मण गन्थों में किया गया है। उन यज्ञों का लक्षण मीमांसा में बताया है—**"द्रव्यदेवतात्यागा याग:"**। अर्थात् देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग याग है। परन्तु ये यज्ञ प्राकृतिक यज्ञ को आधार बना कर किये जाते हैं। इस संकेत की मीमांसक लोग अर्थवाद कहकर उपेक्षा करते हैं। कर्मकाल में उन संकेतों की कोई उपयोगिता नहीं होती, कर्म परायण जन विधि के अनुसार काम करके ही कृतार्थ हो जाते हैं। यही उनकी उपेक्षा का कारण है। किन्तु यज्ञ का मुख्य विज्ञान तो उनके अर्थवाद में ही निहित है। **निश्चय ही प्रकृति के द्वारा प्रतिक्षण यज्ञ हो रहा है, उसी से जगत की उत्पत्ति होती है और उससे**

ही जगत धारण किया जाता है । यदि यज्ञ न हो तो यह जगत उसी समय नष्ट हो जाये । प्राय: नई वस्तु का उत्पादन भी यज्ञ से ही होता है । यही भगवद्गीता में कहा गया है—

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसयिष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। (इत्यादि)

गीता में अनेक प्रकार के यज्ञों का विस्तार से वर्णन है, परन्तु यहां **वैज्ञानिक यज्ञ प्रक्रिया** ही प्रस्तुत की जाती है जो निम्न है :—

संसार दशा में—लौकिक में अग्नि में सोमाहुति और सोम का अग्नि रूप होना ही यज्ञ कहा जाता है । प्रकृति द्वारा सूर्य मण्डलस्थ आदित्याग्नि में परमेष्ठिमण्डल से अनन्त सोम की आहुति दी जा रही है । और वही सौर प्रकाश रूप से परिणत होकर जगत में व्याप्त होते हुए जगत को जीवित रखता है और उसे उत्पन्न करता है । इसी प्रकार पार्थिव अग्नि में हवन किया गया सोम भी सूर्य मण्डल में जाता हैं । इस तरह **सूर्य मण्डलस्थ प्रजापति मुख्य यज्ञ है ।**

इसी तरह पृथिवीमण्डलस्थ प्रजापति भी यज्ञ है । **प्रजापपि नभ्य** और **पूर्ण** इस प्रकार दो प्रकार का है । इनमें नभ्य प्रजापति से यज्ञ उठता है—उत्तिष्ठते तथा सर्व प्रजापति में रहता है—संतिष्ठते । सर्व प्रजापति की स्थिति यज्ञ से ही है । "सर्व प्रजापतौतु यज्ञ संतिष्ठते" । तथा "सर्वः प्रजापतिर्यज्ञेनैवघ्रियत" । इस प्रकार **दोनों ही प्रजापति यज्ञ रूप हैं ।** इस प्रकार पूर्व में जो सब वस्तुओं में प्रजापति की स्थिति होना कहा गया है वे सब ही यज्ञमय हैं, क्योंकि सर्वत्र ही प्राणों की गति, अगति होती है । जिससे न कुछ बाहर आता है, न उसकी पूर्ति के लिए कुछ उसमें जाता है—उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं होता । यह प्राणियों के शरीरों में, वृक्षादिकों में, दीपादि में स्पष्ट अनुभव किया जाता है और पत्थर आदि में उनकी जीर्णता को देखकर अनुमान होना है । पार्थिव अग्नि में बीज रूप जल और सोम की आहुति से अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार जल से भी यज्ञ प्रक्रिया से ही अनेक प्रकार की वस्तुओं का निर्माण होता है । इस प्रकार **प्राण, अर्क, अन्न की अन्योन्य स्वरूप परिवृत्ति यज्ञ है** यह समझना चाहिए । **हवन किया हुआ अन्न अर्क रूप परिणत हो प्राण रूप हो जाता है । प्राण ही अन्न रूप में परिणत होता है । यह यज्ञ सतत् चलता रहता है । इसी से जगत की उत्पत्ति और स्थिति है ।**

संयोगज सृष्टि तीन प्रकार की है । युद्ध धर्म से, **मैथुन** धर्म से और **यज्ञ** से । जहां दोनों ही जीवित रहते हुए ही सवांश में तीसरे का उत्पादन करें, यह है मैथुन धर्म से सृष्टि । यथा—प्राणियों से अन्य प्राणियों की उत्पत्ति, अथवा सूर्य की गर्मी और पृथिवी के रस से वृक्षादि की उत्पत्ति और उनमें पुष्प, फलादि । जहां दोनों स्वरूप से नष्ट होकर तत्त्वान्तर की उत्पत्ति करे वह युद्ध धर्म से सृष्टि कही जाती है । यथा—कोयले और शोरे से बारूद, अथवा अग्नि और जल से धूम । किन्तु जहां एक दूसरे का अंग होकर उस रूप ही हो जाये, अथवा तत्त्वान्तर का सृजन करे वह यज्ञ सृष्टि है । जैसे—वायु जल में प्रविष्ट हो जल का ही अंग रूप हो बुद् बुद् फेन आदि का सृजन करे । ये कुछ उदाहरण हैं । तत्त्व दृष्टि से तो युद्ध तथा मैथुन सृष्टियों में भी यज्ञ अनुस्यूत है ही । वस्तुत:

तो अग्नि-सोमादि की सृष्टि भी यज्ञ से ही होती है। सर्ग के आरम्भ में जो उक्थ, अर्क, अशिति कही गई हैं वे भी यज्ञ ही हैं। अशिति भी अर्क से मिलकर उक्थ भाव को ही प्राप्त होती है, उक्थ भी अर्क रूप से परिणत होकर अशिति रूप होता है।

तो इस प्रकार वेद ही यज्ञ हैं, यज्ञ ही वेद हैं। दोनों एक ही रूप हैं। यज्ञ का यह स्वरूप समझ में आ जाने के बाद अन्य जो नाना प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं उनका स्वरूप समझना सरल होगा—

आचार्य मधु कहते हैं—यज्ञ बहुत हैं। परन्तु इस **शरीर में दश यज्ञ** विशेष रूप से प्रवर्तित होते हैं। वे यज्ञ हैं—दो चयन यज्ञ, दो हवन यज्ञ, दो विराड् यज्ञ, दो बषट्कार यज्ञ, दो अन्न परिग्रह यज्ञ। शरीर में होने वाले—रस, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्रादि—आत्म का अंग हो जाते हैं, यह चिति एक यज्ञ। जिस कर्म से अग्नि, वायु आदि देव वाक् प्राण आदि रूप से आत्म रूप होते हैं—उनका प्रचय होता है यह दूसरा चिति यज्ञ। (अग्नि वाक् रूप और वायु प्राण रूप होती है। इन देवों से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है यह सिद्ध है)।

सूर्यरस प्राण है। पृथ्वीरस अपान है। प्राण का अपान में, अपान का प्राण में अनवरत एक का दूसरे में पर्याय से हवन होता रहता है। यह एक प्रकार का होम है। इससे वैश्वानर अग्नि का उदय होता है। और व्यान में देव प्राण का हवन होता है। उससे प्रश्वास, उच्छ्वास होते हैं। शतपथ श्रुति में कहा है—"अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्वदैव: प्राण आविशति। स वै दैव: प्राणो य: संचरं श्वासंचरंश्व न व्यथतेऽथो न रिष्यतीति"। (१४/३ प्र० ३ ब्रा० २९)। यह दूसरा होम है।

यह सोम ही अग्नि रूप योनि में रेत-वीर्य होकर सिञ्चन करता है। अग्नि निश्चय ही यज्ञ की योनि है। यज्ञ अग्नि से होता है।

वेद सत्य वाक् हैं। यह वाक् विस्तृत होने पर बषट्कार होती है। यज्ञ एकविंश स्तोम अथवा त्रयस्त्रिश स्तोम होता है। वैज्ञानिक प्रक्रिया में स्तोम स्वरूप का बोध होना भी आवश्यक है। संक्षेप में, केन्द्र से निकलकर बाहर व्याप्त होने वाले प्राणों के जो ऋक्, साम, यजु मण्डल बनते हैं उनमें केन्द्र से प्रारम्भ कर अन्तिम मण्डल पर्यन्त त्रयस्तिंशद् विभाग माने जाते हैं। उनमें से तीन भाग मूर्तिरूप पिण्ड के अन्तर्गत ही होते हैं। उसके आगे छह, छह भागों का समूह रूप एक-एक स्तोम होता है। स्तोम का अर्थ संघात प्रसिद्ध है। मंत्र के संघात ही कर्म काण्ड में स्तोम शब्द से प्रसिद्ध है। उसकी मूलभूत वैज्ञानिक प्रक्रिया का यहां विवरण दिया गया है। पुरुष अन्न खाना चाहता है और अन्न खाता है। यह एक अन्नाहुतियज्ञ है। यह रात दिन स्वत: ही सात प्रकार के अन्न को खाते हुए जीवित रहता है। वह प्रतिक्षण किंचित् अवश्य जानता है, कर्म करता है, शब्द सुनता है, वायु से जुड़ता है, तेज से युक्त होता है, जल पीता है, अन्न खाता है—यह उसमें दूसरा आहुतियज्ञ है। इस प्रकार यह पुरुषयज्ञ है।

(बृह० ३४० के अ० ३ के ब्रा० ५ में सप्तविध अन्नों की व्याख्या की गई है। वे सप्तान्न हैं—वाक्, प्राण, मन, अन्न, पय, हुत, प्रहुत। इनमें मन का अर्थ ज्ञान है; प्राण साध्य होने के कारण

प्राण का अर्थ कर्म है, वाक् का अर्थ शब्द, हुत, प्रहुत का अर्थ हवनादि साधन, तेज और वायु; तथा अन्न, जल—यों अन्न सात बताये हैं। इनके बिना कुछ भी जीवन नहीं रहता। अन्न, जल जीवन के आधार हैं ही। तेज–प्रकाश–गर्मी भी जीवन के लिए आवश्यक हैं। वायु तो आवश्यक है ही। ज्ञान और क्रिया तो जीवन स्वरूप ही है।)

सप्त पुरुष आश्रय हैं। सात पुरुष श्री हैं। यों चौदह पुरुष हुए। इनमें पुराण पुरुष कहे जाने वाला पन्द्रहवां है। वेदों से क्रियमाण, निर्मित यज्ञपुरुष सोलहवां है। इस प्रकार प्रजापति १६ कला वाला है। कहा है—"षोडशकलं वा इदं सर्वम्"—(कौ० ब्रा० १६/४)

यह यज्ञ ही आत्मा है। श्रुति है—"सर्वेषांवाएष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद्द यज्ञः"। गीता में भी कहा है—"अधियज्ञोऽहमेवात्र"। इसका भी यही अभिप्राय है।

(यज्ञ ही सर्वव्यवहार परिचालक, सर्व पदार्थ स्थितिजनक व्यावहारिक आत्मा है—यह तात्पर्य है। यही ईश्वर का रूप है। यज्ञ रूप और यज्ञ का अधिपति मैं ही हूं—यह गीता वाक्य का तात्पर्य है।)

आत्मा कहा जाने वाला अर्थ प्रतिष्ठा ब्रह्म त्रयीविद्या में प्रतिष्ठित हैं। उसके परिच्छेद से पृथक् रूप को प्राप्त वेदों से प्रतायमान जो यज्ञ स्वरूप है वह एक प्रजापति है—यह जानो।

प्रतिष्ठा प्राण के परिच्छेद से आत्मा भी परिच्छिन्न की तरह प्रतीत होती है)—इस प्रकार यह आत्मा क्षराक्षर प्राण तारतम्य से नाना प्रकार का होता है—अणोरणीयान् और महतो महीयान्।

"आपः पुरुष वचसो भवन्ति"—(छान्दो० ३४०) के अनुसार आपः ही शरीर के जनक हैं। शारीरिक सूत्र भाष्य के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में भी इसका विस्तार से विवेचन किया गया है। वहां जीवों का चन्द्रलोक से आरोहण तथा शरीर में उनका अनुप्रवेश कहा गया है। "जायस्व म्रियस्व" रूप जीव भी जो चन्द्रमा में नहीं जाते वे यहीं कीट-पतंग रूप होते हैं, मरते हैं। आ० शंकर ने भी यही कहा है। इस प्रकार प्राणियों का देहारम्भ अप् से ही होता है—यह श्रुति-स्मृति सिद्धान्त है।

और यह आत्मा ही अन्तर्निहित उस उस भूतप्राणी के शरीर स्वरूप को पैदा करने वाले अप् की माता है। क्योंकि इन सब ही भूत जन्तुओं का शरीर आत्ममिति से परिमित होता है।

(मायाबल से आत्ममिति होती है। उसके अनुसार ही शरीर की मिति होती है—यह भाव है।)

प्रजापति सम्बन्ध से प्रतिभूतपिण्ड आत्मा में चार प्रजापति उत्पन्न होते हैं। यहां आत्मा का अर्थ शरीरविशिष्ट व्यावहारिक आत्मा है। प्रजापति के सम्बन्ध से देवों का सम्बन्ध भी शरीर

में अनिवार्य रूप से होता है, अतः वे भी प्रजापति ही कहलाते हैं। कहा है—"अग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्रजापत्य इति (शत० ११/१/६)। और भी कहा है—चतुष्टयं वा इदं सर्वमिति ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त (शत० ११/१/६)

क्षरपुरुषकलाभूत देवो की सर्वत्र ही व्याप्ति है। देवता, पितर, ऋषि, मानव, गन्धर्व—ये क्षर पुरुष की प्रथम कला प्राण के ही परिणतिभूत हैं। यद्यपि इनका सम्बन्ध अन्य का अन्य से (अन्यतः, अन्यतः) होता है अर्थात् है यह सम्बन्ध विजातीय, परन्तु उन उन प्रजापतियों के वे अंग, भाग ही हो जाते हैं अतः प्रातिस्विक रूप से उन्हें प्रजापति ही मान लिया गया है। (देखें शत० ११/१/६) ये परमेष्ठी प्राजापत्य ही आपः हुए। वह स्वयंभू प्रजापति प्राण हुआ। जहां कहीं भी जो भी प्राणी हैं—श्रुति में उन्हें प्रजापति कहा है। उससे फिर इन्द्र हुआ। वह इन्द्र वाक् हुआ। (वायु और इन्द्र का अन्योन्य सम्बन्ध, यज्ञ से वाक् की उत्पत्ति हुई। इसलिए वाक् को ऐन्द्री कहा गया है। श्रुति में इन्द्र को वाक् को व्यक्त करने वाला कहा गया है। इन्द्र ही ज्ञान का अधिष्ठाता है। उससे वाक् स्पष्ट व्यक्त होती है।) यह सब वाक् ही है। इसलिए कहा है—"इन्द्रो वाक् इति"।

इन्द्र ने अग्नि और सोम को यज्ञ से उत्पन्न किया। (अग्निषोम अक्षर की कला है उनके यज्ञ से क्षर कला रूप अन्न अन्नाद् की उत्पत्ति हुई।) इनमें अन्न अन्यत्, पृथक् हो गया और अन्नाद् पृथक्। अन्नाद अग्नि है, सोम अन्न। इन पांच देवताओं ने दशपौर्ण मास से यजन किया। (दशपौर्ण-मास रहस्य यज्ञ मधुसूदन में देखें) दशपौर्णमास यज्ञ से ही ये चार प्रजापति और प्रजापति परस्पर संहित होकर प्राणियों के शरीर में क्रम से अप्, प्राण, वाक्, अन्नाद्, अन्न इन पांच भावों में परिणित होकर प्रतिष्ठित हैं।

उन उन चार प्राजापतियों में सब से प्रथम अप् का आत्मा से संसर्ग होता है। इसमें मातरिश्वा कारण है। यह पारमेष्ठय समुद्र से उत्पद्यमान-उत्पन्न होने वाला वायु इस सम्पूर्ण त्रिलोकी को व्याप्त करता है। आपः ही मातरिश्वा की योनि है। मातरिश्वा का स्वरूप आपः के बिना—आपः के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं बनता। मातरिश्वा का अर्थ है—जो अप् की माता आत्मा में—परमेष्ठि मण्डल में श्वयति—जाता है, बढ़ता है वह मातरिश्वा। यह इसके व्युत्पत्ति निमित्त और प्रवृत्ति निमित्त होता है। यह मातरिश्वा वायु चौथे लोक पारमेष्ठ्य समुद्र को अभिव्याप्त करता हुआ वहां प्रतिष्ठित आत्मा अर्थात् प्रजापति नाम के प्राण को सब और से गृहण कर लेता है। यह प्रजापति प्राण, छोटा हो अथवा महान जैसा भी हो उसी परिणाम में, मातरिश्वा आत्मा में आपः का शिचन करता है। जैसा कि भगवान् वेद पुरुष कहते हैं—

"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्" (ऋ० १०/११४/४)

आचार्य मधु ने उक्त मन्त्र का अपनी वैज्ञानिक प्रक्रिया से अर्थ किया है। कहते हैं—पक्ष, पुच्छ, आत्म से प्रजापति का स्वरूप सम्पन्न होता है और सुपर्ण के भी पक्ष, पुच्छ है अतः प्रजापति सुपर्ण कहा गया है। सुपर्ण अर्थात् प्रजापति। प्रजापति तो अनन्त हैं तो भी वह महतो महीयान है

अतः इस अपेक्षा से उसे 'एक' कहा गया है। अथवा प्रत्येक प्रजापति है—इस अभिप्राय से भी उसे 'एकः' कहा है। प्रजापति एक महतो महीयान व्यापक है। अन्य प्रजापति उसमें अनुप्रविष्ट हैं इसलिए उसको एक कहा है। मन्त्र में "तं माता रेढि"—वाक्य से अप् का, आत्म को अन्योन्य सृष्ट होना कहा है। आपः सब सृष्टि की माताएँ हैं। प्राण आप्य है। उसे आपः का पुत्र कहा गया है। ऐतरेय आरण्यक में कहा है "वाग् वै माता प्राणः पुत्र।" उपरोक्त "प्राण को आपः का पुत्र" कहा जाना इस श्रुति के विरूद्ध नहीं है, क्योंकि 'अप्' की उत्पत्ति वाक् लोक से है और 'अप् को वाक् रूप कहना उचित ही है। प्राण, वाक् आपः, अन्नाद्, अन्न क्षर पुरुष की कलाऐं हैं। ये अन्योन्य संसृष्ट हैं, अतः इनका व्यवहार सांकर्य है। एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इसकी व्याख्या अन्य प्रकार से भी की गई है। यथा–मातरिश्वा वायु को ही सुपर्ण मानो। उसको आत्मा-माता अनुग्रह करती है। वह आत्मा से सम्बन्ध करता है। आत्मा माता है—यह बात अनेक बार कही गई है। आत्मा का मातृत्व अनेक बार कहा गया है।

भूत शरीर के जनक अप् का परिच्छेदक आत्मा में विस्तृत होता हुआ यह मातरिश्वा वायु जब अन्य से अप् प्राप्त नहीं करता, तब अपने में स्वयं परिष्वक्त ही किसी अप् का सृजन करता है।

जड़ पदार्थों में अधिकतर अप् प्राप्त नहीं होता, किन्तु चेतन पदार्थों में शुक्र रूप अप् पुरुष शरीर के अंगभूत उपलब्ध होते ही हैं। लोकान्तर से आगत आत्मा के साथ भी चन्द्रमण्डल के अप् के साथ संसर्ग होता है। सबके ही परस्पर भोग से शरीर की उत्पत्ति होती है। इसी को स्पष्ट करते हुए भगवान् बादरायण के सूत्र हैं—"रेतः सिग्योगाथ" (अ० ३ पा० १ सू० २६) तथा "योनेः शरीरम्" (३।१।२७)

इन सूत्रों का साधारण अर्थ यह है कि जीवात्मा का सम्बन्ध उसके बाद वीर्य का सेचन करने वाले पुरुष के साथ होता है। जीवात्मा अन्न के साथ पुरुष के पेट में जाकर उसके वीर्य में प्रविष्ठ हो उस पुरुष से संयुक्त होता है। इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि आकाशादि से लेकर अन्त तक सभी जगह केवल संयोग से ही उसका तदाकार होना कहा गया है, स्वरूप से नहीं।

फिर "योनेः शरीरम्"—स्त्री की योनि में प्रविष्ठ होने के अनन्तर वह जीवात्मा कर्मफल भोग के अनुरूप शरीर को प्राप्त होता है।

इस प्रकार वह स्वर्ग से आने वाला आत्मा-जीवात्मा पहले पुरुष के वीर्य के आश्रित होता है। फिर उस पुरुष द्वारा गर्भाधान के समय स्त्री की योनि में वीर्य के साथ प्रविष्ट करा दिया जाता है। वहाँ गर्भाशय से सम्बद्ध होकर उक्त जीव अपने कमफलों के अनुरूप शरीर को प्राप्त होता है। यहीं से उसके कर्मों के फल का भोग आरम्भ होता है। इसके पहले स्वर्ग से उतर कर वीर्य में

प्रविष्ट होने तक उसका कोई जन्म या शरीर धारण करना नहीं है। केवल उन-उन आकाशादि के आश्रित होना मात्र कहा गया है। उन धान आदि शरीरों के अधिष्ठाता जीव दूसरे ही हैं।

आचार्य मधु ने ब्रह्म-सूत्र ३/१/२२ से ३/१/२७ सूत्रों को अवरोहणमार्गक्रम कहा है। अर्थ किया है कि—"जो-जो अन्न को खाता है, जो रेत: वीर्य का सिंचन करता है वह ही भय होता है।" वहाँ रस, असृग् आदि क्रम से ब्रीहादि भुक्त अन्न के परिणाम में रेत: में उनका संश्लेषमात्र होता है, क्योंकि वीर्य ब्रीहि आदि की तरह भोगायतन नहीं है। 'रेत: सिग् योग' के बाद और 'योनि में निषिक्त रेत में योनि के सम्बन्ध से उनका शरीर फल भोग के योग्य होता है। केवल शरीर ही उनका फल भोग का अधिष्ठान होता है। उससे पूर्व उनको ब्रीहादि, अन्न, रस, रेत भावों का उपष्टम्भक मात्र समझना चाहिये—

किसी भी दृष्टि से देखें, इस आत्मा में—योनी में 'भूत प्रपच—की उत्त्पत्ति के बीज अप्-रेतस का निषेक मातरिश्वा वायु से ही होता है जैसा कि कहा है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

इस मन्त्र में तीन पादों में आत्मा का लक्षण बताया गया है। इन लक्षणों का आत्म प्रकरण में अन्यत्र विशद् निरूपण किया गया है। वह वहीं दृष्टव्य है। यहाँ तो केवल इस आत्म योनि में सृष्टि के साधनभूत-उपयिकरूप अप् का ससर्ग मातरिश्वा वायु से किया जाता है यही बताना है।

आचार्य मधु ने उक्त मन्त्र में बताई गई आत्मा की व्याख्या का—आत्मा के लक्षणों का विशद विवेचन "उपनिषद् हृदय" आदि में किया है। उस व्याख्या का सार निम्न है—

उक्त मन्त्र में आत्मा के लक्षण तीन पक्षों में निरूपित किये हैं। वे पद हैं—'अनेजद्', 'मनसो जवीय', 'धावतोऽन्यानत्येति।' आत्मा के ये परस्पर विरोधी धम हैं। इनसे ईश्वर का विरूद्ध धर्माश्रयत्व व्यक्त होता है। सर्वव्यापक परमात्मा में किसी भी धर्मों का विरोध नहीं है, क्योंकि ईश्वर सब धर्मों का आश्रय है। 'ईश्वर व्यापक है—इसी से देवगण जहां कहीं भी दौड़कर जाते हैं वहीं ईश्वर को देखते हैं। वह सवर्ग है, अत: जहाँ भी वे जाते हैं ईश्वर विद्यमान मिलता है। और उसमें सूत्रात्म रूप वायु:मातरिश्वा अप्-अर्थात् सृष्टि के योग्य-साधन भूत कर्मों को धारण कराता है—दधाति। उसी से उसका सृष्टिकर्तृत्त्व होता है—यह प्राचीन भाष्यकारों की व्याख्या थी। किन्तु आ० मधु ने इस मन्त्र की वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर व्याख्या की है। जो निम्न है :—

अव्यय पुरुष पंचकल है। उसको प्रथम तीन कलाऐं—आनन्द, विज्ञान, मन मुक्तिसाक्षी विद्यारूपा है। अन्तिम तीन—मन, प्राग, वाक् सृष्टि साक्षी कर्मरूपा है। इस प्रकार इस मन्त्र में विद्याकर्ममय, रसबलसमष्टिरूप, सर्वजगदाधार, सर्वोत्पादक अव्यय पुरुष का ही निर्देश है। उसकी विद्यारूपा कला अविचल स्थिर है। किन्तु कर्मरूपा कला गतिरूप, अत्यन्त तेज गतिमान है। वह

उभय रूप है। उसके अचलन अर्थात् स्थिरता और अतिवेगत्व दोनों ही हैं। इसीको लक्ष करके श्रुति ने उभय–दोनों ही प्रकार के लक्षण बताने वाले पद—'अनेजद', 'मनसो जवीयः', 'तिष्ठद्', धावतोऽन्यान् अत्येति' कहे हैं। वही यह व्यापक ईश्वर है। यद्यपि असंग अव्यय पुरुष में रेतो रूप अप् का संसर्ग बन नहीं सकता, तो भी जब पूर्व प्रतिपादित वेद उत्पन्न होते हैं तब ऋक्, साम अवच्छिन्न यजुर्वेद में रेतोरूप अप् का संसर्ग होता है। अथर्वेदरूप इन आपः का वेदत्रय के स्वेदरूप–'सुब्रह्म' शब्द से गोपथ ब्राह्मण में निरूपण किया गया है। यजुर्वेद इस कर्मरूप अव्यय पुरुष की प्रथम विकास भूमि है—इसलिए उसको अव्ययरूप ही मानकर श्रुति में अव्यय पुरुष में ही अप् (अपां) का सम्बन्ध होना कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में यजुः शब्द की भी गति, स्थिति बोधक दो शब्द "यत्, जूः" से व्याख्या की गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेद गतिस्थित्यात्मक ही है। यजुः वायु और आकाश की समष्टी है—यह भी पहले कहा गया है। आजकल के वैज्ञानिक भी "इलेक्ट्रोन, प्रोटोन" नामक गतिस्थितिशील तत्व में जगत की उपादानता मानते हैं। उक्त विवेचन आ० मधु रचित 'ब्रह्म-सिद्धान्त' पर म. म. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी की टिप्पणी (पृ० ६८) पर आधारित है।

ऊपर, 'मातरिश्वा' का उल्लेख हुआ है। आ० मधु ने 'मातरिश्वा' शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—"सोऽपां मातरि तत्रात्मनि श्वयति"–इति मातरिश्वा। वहाँ मातृ शब्द से तात्पर्य आत्मा से है। किन्तु अन्य स्थान पर आ० मधु ने मातृ शब्द का अर्थ पृथिवी भी किया है। यहाँ पृथिवी शब्द से तात्पर्य स्वयम्भू आदि पृथिवी पर्यन्त सब ही धनीभूत पिण्ड से है। सब धनीभूत पिंडों को पृथिवी ही कहा गया है। उन पिंडों में व्याप्त होता हुआ, उनको चारों तरफ से आवृत्त-आवरण करता हुआ पिण्डस्वरूपसमर्पक और पिंडरक्षक वायु को मातरिश्वा कहा गया है। यह भृगुरूप है। इसका जनक आत्मा ही है। यहाँ माता-मातृ का अर्थ आत्मा है।

तात्पर्य यह है कि इसकी दोनों ही प्रकार से व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि वेद मन्त्र महा अर्थगर्भित हैं।

आ० मधु कहते हैं—इनमें आत्मा योनि और आपः रेतः —वीर्य है। इनसे आत्मा में अप् की ग्रन्थि पड़ती है वही सृष्टि है। यही यह आत्मा में मैथुन सृष्टियों में प्रथम है। अद्-अप् से पूर्व मैथुन सृष्टि नहीं थी। सयोगज सृष्टियों को मैथुन सृष्टि कहते हैं। इस प्रकार की सृष्टियों में अप् ही प्रथम सृष्टि है। अतः मनु ने भी यही कहा है कि "अप् एव ससर्जादौ।" पुराणों में भी अनेक स्थानों पर 'अप्' को ही प्रथम सृष्टि कहा गया है।

त्रयी विद्या से ब्रह्म प्रजापति-ब्रह्म में प्रतिष्ठाब्रह्मरूप से उत्पन्न होता है इसलिए प्रतिष्ठा से पहले प्रजापति में सृष्टि व्यवहार बन नहीं सकता। आत्मसृष्ट के बाद की सब सृष्टियाँ अप् में ही होती है यह निश्चय है।

अप् से पूर्व तो ब्रह्म के जितने तत्व पैदा होते हैं—जैसे, पुरुष त्रयी, वेद त्रयी, स्वयंभू भगवान अव्यक्त की अभिव्यक्तियां हैं। मनु ने कहा है कि वेदमय स्वयंभू मण्डल अथर्ववेद सुब्रह्म

भृगु, अंगीरा इत्यादि ऋषि—ये सब प्रजापति ब्रह्म की प्रतिष्ठा रूप होने से ब्रह्मरूप ही माने गये हैं।

नाभानेरिष्ठ, बालखिल्य, वृषाकपि, रेवयामरुत्—ये चारों सहचर प्राण क्रम से रेतस् प्राण, आत्मन् प्रतिष्ठा के लिए उपयुक्त हैं। ये चेतनगर्भसंसृष्टि विषयक हैं, विशेषता लिए हुए हैं। किन्तु यह मातरिश्वा प्राणवायु चेतन अचेतन के लिए समान-साधारण है, सर्वसृष्टि विषयक हैं। ये सर्वविकारोत्पादनभूत अप् के आलम्बन कर्म आत्मा में संश्लेषण के लिए उपयोगी हैं।

श्रुति है—"आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास" (शत० ११/१/६) पूर्व में–सृष्टि से पूर्व आप:, सलिल ही था। इन आत्मनिष्ठ आप: का मातरिश्व प्रजापति द्वारा परिच्छेद हुआ। ये विभक्त हुए। इनसे इनका स्वरूप-आकृति-छन्द बना। ये पृथक् हुए। इनको आत्मा का अंगरूप माना जाता है। इसलिये इन आप: से उत्पन्न होने वाली सृष्टि उस आत्म के भाग रूप ही कही जाती है। सृष्टि के अपादानभूत अप् को आत्मा के भाग रूप होना मानना उचित ही है।

उपरोक्त विवरण-क्रम साधारण रूप से सबभूत सृष्टि के सम्बन्ध में लागू होता है।

१३. निर्विकाराधिकरण

पूर्व प्रकरण में पुरुषत्रय का निरूपण किया गया है। इनमें परात्पर और अव्यय को निर्विकार कहा है, परन्तु जब अव्यय अक्षर तथा क्षर रूप होता है तो रस में स्पष्ट ही विकृति सिद्ध होती है, क्योंकि अक्षर और क्षर अवस्था में असंगत्व, निर्गुणत्व आदि धर्मों का दर्शन नहीं होता और योगायोग और यज्ञादि से नये नये धर्मों का प्रादुर्भाव हो जाता है। ऐसी दशा में ब्रह्म निर्विकार कैसे हो सकता है ? यह शंका निर्मूल है। **रस मूलत: निर्विकार है और सर्वदा ही निर्विकार ही रहता है।** जितने विकार प्रतीत होते हैं सब रस के साथ बलसंयोग से है। सत्ता, ज्ञान, आनन्द रस के धर्म हैं। ये सर्वत्र व्यापक प्रतीत होते हैं। ये सब अवस्थाओं में एक रूप प्रतीत होते हैं। बल जन्य नाम, रूप और कर्म का परिवर्तन स्पष्ट ही बल का परिणाम है। बल ही परिवर्तन करता है, रस तो निर्विकार ही है।

सब 'है'—यह सब अवस्थाओं में प्रतीत होता है, इसलिए सत्ता नित्य निर्विकार है। जो है वह जाना भी जाता है, इसलिए ज्ञान भी नित्य निर्विकार है। अज्ञान भी बहुत रहता ही है तब ज्ञान की सर्वसत्ता–विभुत्व कैसे ? इसका समाधान यह है कि किसी से तो वह जाना ही जाता है। इसलिए ज्ञानविषयता तो निर्बाध है। वृत्यात्मक पृथक्-पृथक् पुरुष का ही अज्ञान में विकल्प है। एक मुख्य ज्ञान तो रस रूप से सर्वत्र ही व्याप्त है। वह सत्ता से अभिन्न ही है। इस प्रकार सत्ता और ज्ञान दोनों ही के प्रिय होने से आनन्द की भी व्याप्ति है।

दृष्टान्त रूप से पुष्प-वस्त्र गन्ध। इस दृष्टान्त का भगवान् कणाद के सूत्र—"पुष्पवस्त्रयो: सति सन्निकर्षे गुणान्तरा प्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभाव लिङ्गम्" तथा "व्यवस्थित: पृथिव्यां गन्ध" इत्यादि से सम्बन्ध है।

जहाँ रस में बल की प्रेरणा से अन्य असुप्त बल का उदय होता है, वहाँ रस में विकार नहीं देखा जाता। इसी से रस को निश्चय ही निर्विकार कहा गया है।

विभिन्न विकारों में रस रूप सत्ता की व्यापकता का एक ओर दृष्टान्त है—मिट्टी से रुई, उससे सूत, फिर तन ढकने वाला वस्त्र जिससे फिर कन्था। फिर अग्नि का सम्पर्क होने पर राख और उससे फिर मिट्टी—इस प्रकार एक ही नाना रूप होता है, उसी को विकार कहते हैं। जो बल है वह रूप, कर्मादि का विशेष कारण है। रस तो एक ही रहता है। वह अविकारी है। जगत एक ही कारण से उत्पन्न हुआ है। **विकार भेद बलकृत है। रस तो सत्ता रूप से सर्वथा अविकृत है।**

अन्य उदाहरण है—अंगुली कम्पन। कम्प को ही विकार कहते हैं। वह कम्प बल है। आधार अंगुली का है। वह निर्विकार स्वरूप से बल को धारण करती है। इस प्रकार जो-जो भी विकार कहे जाते हैं वे सब बल के रूप हैं। इसलिए जहाँ बल विलीन होता है, जहाँ वह उद्भावित-पैदा होता है वह निर्विकार है। कहीं विमोक्ष है, कहीं बन्ध, तो कहीं विकार का क्रम विशेष रूप से है। सर्ग, विसर्ग और प्रतिसर्ग भेद से कहीं विसर्ग है तो कहीं प्रलय। इस प्रकार कर्म के कारण

विकार दिखाई देता है, फिर भी रस में विकार नहीं ही है। अकर्म का लक्षण कर्म है। कर्म के विकार से ही इसमें विकार लक्षित होते हैं। अकर्म रस का लक्षण है, कर्म बल का। हम बल को ही देखते हैं, रस निगूढ़ रहता है। इसलिए बल के विकारों को ही हम रस में देखते हैं।

चाहे योग सम्बन्ध हो, विभूति सम्बन्ध हो, बन्ध हो, अथवा वृत्तित्व, तो भी मृत्यु अमृत रस में उपसृष्ट होती ही है अर्थात् कोई भी सम्बन्ध क्यों न हो, मृत्यु-बल ही रस में सृष्टि करता है—निवृत्ति बल की ही होती है। रस सर्वदा पूर्ण रहता है। योषा-वृष, इरा-निरा से बुद्‌बुद्, फेन, मृद् रूप परस्पर संग के कारण जो सृष्टि-विसर्ग हुआ वह कर्मों का कर्म के साथ सम्बन्ध है, योग है। और भी—जैसे श्यामल-पीत के संग से दोनों के विकार से विलक्षण हरित रंग उदित होता है, उस तरह अमृत में नहीं होता। विकार मृत्यु-बल के संग के कारण होता है। जैसे, प्रातः दूब के अग्रभाग में पानी की बूँदें सूर्य किरण के सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न दिशा से देखे जाने पर लाल, हरी, तथा अन्य प्रकार की दिखती हैं उसी प्रकार मृत्यु के कारण अमृत विभिन्न प्रकार का दिखता है। असंगता का एक ओर दृष्टान्त है—रंगा हुआ कपड़ा। रंग दूर हुआ कि रंग से विकृत दिखने वाला कपडा साफ-स्वच्छ। इसी प्रकार बल से आवृत्त अमृत भी असंग है। कभी आवरण इतना गहरा होता है कि आवरित वस्तु दिखाई ही न दे। उसका दृष्टान्त है—चन्द्रिका। दिन में चन्द्र है तो चन्द्रिका भी है, वह दिन में प्रकाशित नहीं होती परन्तु नष्ट भी नहीं होती। दूसरा दृष्टान्त है—सूर्य के प्रकाश से अभिभूत अंधकार नष्ट न होकर भी पृथक् से दिखाई नहीं देता। इसी प्रकाश-अमृत बल के अतिशय के कारण रस पृथक् से दिखाई नहीं देता।

निष्कर्ष यह है कि स्वभाव से अमृत निरञ्जन है। वह मृत्यु-बल के सम्बन्ध से–संसर्ग से साञ्जन है। न वह बनता है, न बिगडता है, न ढकता है। वह आवृत्त होकर केवल अन्यथा अर्थात् स्व स्वभाव के विपरीत दिखता है।

कहा है—

यतः स्वभावादमृतं निरञ्जनं ततस्तदा साञ्जन मृत्युसङ्गतः।
न सज्जते न व्यथते, न लिप्यते तदावृतं केवल मीक्षतेऽन्यथा॥

(आ० मधु)

१४. ब्रह्मदर्शनाधिकरण

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ब्रह्म निर्विकार है। साथ ही सर्वाधार रूप से सर्व व्याप्त है। कर्म से, बल से ब्रह्म अदृष्य है—अज्ञानावृत्त है, अन्यथा प्रत्यक्ष है। जगत में **ब्रह्म की प्रतीति के** आ० मधु ने ये **सात प्रकार** बताये हैं—**१. प्रत्यय साक्षी, २. रस प्रद, ३. पात्र, ४. विवर्त्ति, ५. लम्भन, ६. आलम्बन, ७. आयतन। ये कर्म में ब्रह्म के उपयोग हैं। प्रत्येक का विवरण निम्न है :—**

१. प्रत्यय साक्षी—प्रत्यय का अर्थ ज्ञान और साक्षी उसका ज्ञापक। इस प्रकार प्रत्यय साक्षी का अर्थ हुआ ज्ञान का ज्ञापक। अनेकों में जो एकत्व ज्ञान है वह आधार बिना नहीं हो सकता। अव्यय पुरुष की माया से विभिन्न-विच्छिन्न हुए की एक स्थान पर जितनी व्याप्ति है, वहाँ तक सर्वत्र एकत्व प्रतीत होता है। यह **एकत्व प्रतीति ही ब्रह्म प्रतीति है।** बल के कारण अनेकानेक प्रकार के गुण पैदा होते हैं। उनमें एकत्वभाव होकर वे द्रव्यवत् प्रतीत होते हैं। यह एकत्व भाव ही ब्रह्म है जिससे यह जगत जो बलोत्पादित विभिन्न गुणों का समूह मात्र होते हुए भी एक द्रव्य की तरह प्रतीत होता है। जैसे—प्रतिभट, द्रुम, क्षेत्र, जलार्चि का एकत्व सेना, वन, ग्राम, सर, प्रदीप रूप प्रतीत होते हैं। जगत में यह एकत्व प्रतीति एकत्वाधारभूत समब्रह्म का रूप ही है। एकीभावात्मिका समब्रह्म की कृति रूप का ही बल में उपयोग बताते हुए **"प्रत्ययसाक्षित्व"** प्रथम गिना है। यथा—"समं तिष्ठन्तं परमेश्वरम्", "समवस्थितमीश्वरम्", "सर्वभूत पृथक् भावमेकस्थमनुपश्यति" इत्यादी गीता के श्लोक १३/२०, २८ अवलोकनीय हैं।

ब्रह्म के "प्रत्यय-साक्षित्व—पर अधिक जिज्ञासुओं को मूल ग्रन्थ 'ब्रह्म-सिद्धान्त' में श्लोक २२४, उस पर श्री गिरिधर चतुर्वेदी जी की टिप्पणी, आ० मधु का ही "गीता विज्ञान भाष्य" तथा पंडित प्रवर श्री मोती लाल जी के वृहद् निबन्ध "संस्कृति और सभ्यता" के पैरा ७ से १२ (पृष्ठ ४-५-६-८) दृष्टव्य हैं। विषय सूक्ष्म और कठिन है।

२. रस-प्रद—आचार्य मधु कहते हैं—**"कर्मणि तु ब्रह्म ध्रुवंरसप्रदम्", "कर्मबलं च निरात्मकं न दृष्यते", "यः सत्तारस आदधाति स आत्मा।"** अर्थात् कर्म में ब्रह्म निश्चित् रूप से रस प्रद है। कर्म-बल निरात्मक नहीं दिखाई देता। जो सत्ता रस का आधार है, जो सत्ता को रस देता है वह आत्मा है, जैसे जल में फूलों की गन्ध अथवा लवण।

रस बल का आधार और बल आधेय है, परन्तु यहाँ विपरीत आधार-आधेय भाव है। रस बल में प्रवेश करके सत्ता देता है, बल आधार है। इस आधेय जगत में जिस-जिस पदार्थ में शक्ति है वह ब्रह्म ही से प्राप्त है। रस सत्ता से ही जगत सत्ता है। विपरीत आधार-आधेय भाव होने का दृष्टान्त है पुष्पगंध अथवा नमक। गीता में कहा है—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः।" यहाँ रस और प्रभा वास्तव में रस रूप हैं। अतः सामान्यतया रस-अहं ही आधार होते हैं, परन्तु यहाँ बल रूप अप् और शशि, सूर्य आधार हैं और रस-प्रभा आधेय।

बृहदारण्यक उप. अ. ३, ब्रा. २ में याज्ञवल्क्य के प्रश्णोत्तर में इस विषय का सुन्दर विवेचन है।

३. **पात्र**—जहाँ आधार में आधेय बिलीन रहता है, पृथक् प्रतीत नहीं होता उसे पात्र कहते हैं। पात्र में स्थित वस्तु आच्छादित होती है। जैसे—गीला कपड़ा जल का, तिल तेल का, और दूध घी का आधार है, इसी प्रकार ब्रह्म जगत का पात्र है।

४. **विवर्त**—कुछ लोग जगत को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं। कहा है–"केचित् पुनः ब्रह्म विवर्तनं विदुः।" शांकर वेदान्त में जगत् को ब्रह्म का विवर्त माना जाता है। दृष्टान्त रूप से, स्वप्न में दिखाई देने वाले रथादिकों का विज्ञान ही अधिष्ठान रूप आधार है, क्योंकि विज्ञान नाम से प्रसिद्ध बुद्धि ही उस रूप में परिणत होकर नजर आती है। इसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् का अधिष्ठान है।

५. **लम्भन**—अथवा आलम्भन वहाँ होता है जहाँ आधार में आधेय का स्पर्श तो हो परन्तु आधार स्वतन्त्र ही रहे, आधेय के नष्ट हो जाने पर भी आधार की कोई हानि न हो, अथवा कोई वैलक्षण्य ही न पैदा हो। यह आलम्भन की परिभाषा है। 'आ' उपसर्ग 'लभते' का अर्थ स्पर्श है। जैसे—लहरों का जल, चित्र का कुंडल, प्रतिबिम्ब का दर्पण, इसी अर्थ में ब्रह्म जगत का लम्भन आलम्भन है।

६. **आयतन**—आधार आधेय भाव होते हुए भी आधार में आधेय का स्पर्श भी न हो वह आयतन जैसे महतों का अन्तरिक्ष। महत-वायु का आयतन आकाश वायु से जरा भी स्पर्श नहीं करता, इसलिए आकाश महत का–वायु का आयतन है। जैसा कि कहा है—"यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान। एवं सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय"–इति (गीता)

आयतन शब्द का अर्थ घर, निवास, विस्तार का स्थान, Figure अथवा Dimension होता है। ब्रह्म कर्मों का विस्तार स्थान भी है और निवास भी। कर्मों का जहाँ-जहाँ विस्तार है वहाँ-वहाँ ही ब्रह्म है। ब्रह्म विभु है, कर्मों का आयतन है।

७. **आलम्बन**—ब्रह्म कर्म का आलम्बन है जैसे– जल का बिन्दु मिट्टी के कणों का। जहाँ संश्लेष होता है, जिससे आधार स्वरूप में विलक्षणता भी पैदा होजाती है उसे आलम्बन कहते हैं। जैसे, जल के बिन्दु में पड़ी मिट्टी के कणों का संश्लेष भी होता है और जल में स्वरूप परिवर्तन भी होता दिखता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि जलकण रजकण का आधार होता है।

रस, बल का उपरोक्त आधार आधेय सम्बन्ध रस, बल के विविध संयोगों के कारण होते हैं। चार प्रकार के सम्बन्धों का विवेचन पूर्व में किया जाचुका है। ये सम्बन्ध हैं—वृत्तित्व सम्बन्ध, योग सम्बन्ध, बन्ध सम्बन्ध तथा विभूति सम्बन्ध।

ब्रह्म, जिसे 'अदः' कहा गया है, जो प्रत्यय साक्षी है वह, वृत्ति सम्बन्ध से आलम्बन और आयतन होता है; वही योग सम्बन्ध से पात्र, बन्ध सम्बन्ध से रसप्रद, तथा विवर्ति और लम्भन विभूति सम्बन्ध से होता है।

ब्रह्म और जगत् के इन परस्पर आधार-आधेय सम्बन्धों को लेकर पृथक्-पृथक् दर्शनों ने किस-किस प्रकार से ब्रह्म और जगत् की व्याख्या की है यह विवेचन काफी दिलचस्प और दार्शनिक क्षेत्र में नया है। यह संक्षेप में निम्न प्रकार है :—

१. **श्री शंकर** का विवर्तवाद—भगवान् शंकराचार्य ने ब्रह्म-जगत् सम्बन्ध को **विवर्त** माना है।

२. **योगदर्शन** में महर्षि पतंजली ब्रह्म का निरूपण करते हैं—**"अपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः"**। यहाँ पुरुष विशेष को 'अपरामृष्टः'–असम्पृक्त, अस्पृश्य, सर्वदा शुद्ध रूप से पृथक् माना है। आधार असम्पृक्त, अदृश्य हो वही आयतन कहा गया है।

३. **सांख्य दर्शन** का प्रतिबिम्बवाद आलम्भन रूप का अनुसरण करता है। उसमें जगत् का पुरुष में प्रतिबिम्ब रूप से प्रतिफलन माना गया है, अर्थात् जगत पुरुष (ब्रह्म) में प्रतिबिम्ब रूप से प्रतीत होता है—यह स्वीकार किया गया है। यथा–"तस्मिश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तु दृष्टयः। इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव **तटद्रुमाः**"। आलम्भन, जैसा पहले स्पष्ट किया है, वह होता है जहाँ आधेय का आधार में स्पर्श हो तो भी आधार स्वतन्त्र ही रहता है। यह प्रतिबिम्बवाद का ही स्वरूप है।

४. **विशिष्टाद्वैत और द्वैतवादी** "रस प्रद" रूप के पक्षपाती हैं। वे शरीरभूत प्रकृति, जीव में ब्रह्म की व्याप्ति बताते हुए उसकी सर्व शक्तिता को मानते हैं। यहाँ प्रकृति और जीव शरीर रूप से ब्रह्म के आधार होजाते हैं, क्यों कि उनमें ब्रह्म की व्याप्ति होती है और सर्व शक्तिता भी। यही बात 'रस प्रद' रूप की व्याख्या से स्पष्ट है। विपरीत आधार-आधेय भाव 'रसप्रद' रूप की स्वरूप व्याख्या है।

नैयायिक ब्रह्म का सत्ता स्वरूप मानते हुए ईश्वर की सर्वत्र व्याप्ति कहते हैं। यह भी 'रसप्रद' रूप के ही अनुकूल है।

५. **पौराणिक, आगमिक** तथा **श्री बल्लभाचार्य** का सिद्धान्त है कि ब्रह्म अन्तर्निलीन जगत को बाहर प्रकट करता है। यह "पात्रत्ववाद" के अन्तर्गत आते हैं। 'पात्र' रूप में, जैसा कि पूर्व में कहा है, आधार में आधेय निलीन रहता है, पृथक् प्रतीत नहीं होता। उक्त सिद्धान्त में जगत-आधेय ब्रह्म-ईश्वर-आधार में अन्तर्निलीन होता है–वही प्रकट होता है, जैसे—दूध में अन्तर्निलीन घी।

६. **द्वैताद्वैतवादी श्री भास्कराचार्य** 'आलम्बन वाद' के समर्थक प्रतीत होते है। वे औपाधिक भेद और स्वयं ब्रह्म का अभेद समझते हैं। इस प्रकार इनके मत में ब्रह्म और जगत् में संश्लेष भी होता है और उसके कारण आधार ब्रह्म के रूप में उपाधियुक्त एक विलक्षणता भी उत्पन्न हो जाती है, जैसे जल और रज कण। यही स्वरूप आलम्बन रूप का भी है।

यद्यपि इन सब की ही निरूपण प्रक्रिया में अनेक अंशों में इस प्रक्रिया की अपेक्षा से भेद भी मिलता है, परन्तु संक्षेप में संकेत विधि से यह प्रक्रिया उन-उन स्थानों में, विचार करने पर, प्रतीत हो ही जायगी।

आचार्य श्री मधु वेदान्त सूत्र "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" का ही अनुसरण करते हैं। वास्तव में उक्त सब ही प्रक्रिया का ब्रह्म में होना सम्भव है। मतिभेद से निरूपण प्रक्रिया में भी भेद होजाता है। ब्रह्म का जगतअधिष्ठानत्व तो सब ही में समान है। दुरूह विषय में प्रक्रिया भेद दुर्निवार है। इसलिए आचार्य श्री मधु कहते हैं—

**"तदित्थमेतानि मतानि चामृते विशिष्य ये ब्रह्मविदो विदुः पृथक्।
सर्वाणि तानीह यथार्थवस्तु ते पश्यन्ति पश्यामि हि सर्वदाऽपितत्"॥**

आचार्य श्री मधु ने ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध में एक और दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जिसका आधार हैं श्रीमद् भगवत् गीता का निम्न श्लोक :–

**"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीज मव्ययम्"॥**

यह महाकाव्य विधा के अनुसार वार्तालाप पद्धति के कारण ब्रह्म के स्थान पर कृष्ण वाक्य के रूप में गीता में दिया है। वहाँ श्री कृष्ण स्वयं ब्रह्म रूप-ज्ञान रूप हैं।

गीता के उक्त श्लोक पर आधारित तथा इसके ही अनुवाद स्वरूप आ० श्री मधु का श्लोक है :—

**गतिः स भर्त्ता प्रभुरेष साक्षी सुहृन्निवासः शरणं निधानम्।
स्थानं च बीजं प्रभवो लयश्च ब्रह्मैतदेषां जगतां निरुक्तम्॥**

ब्रह्म और जगत के उपरोक्त बारह प्रकार के सम्बन्ध कहे हैं और प्रत्येक की पृथक्-पृथक् व्याख्या की गई है जो निम्न है :—

१. गति—बन्ध अर्थात् जगत के समस्त पर्यायों, विपर्ययों में अथवा जगत् की प्रलयावस्था में, प्रबन्धन या उद्बोधन के क्रम में, अथवा बन्ध और मोक्ष में जिस मूल उद्गम स्थान को यह जगत् प्राप्त होता है उस भाव को गति कहा गया है।

गति की व्याख्या है—गम्यतेऽस्मिन् इति गतिः। जगत की सारी अवस्थाओं में जगत ब्रह्म में लीन रहता है। इस प्रकार ब्रह्म जगत की गति अर्थात् गन्तव्य स्थान, लय स्थान है।

२. भर्ता—सब जो भी आदान-विसर्ग शील है विसर्जन करके-देकर यदि अपनी शक्ति से गृहण नहीं करता तो क्षीण हुआ वह यदि आत्माभिमुख होता है तो आत्म रस से उसकी क्षति पूरी होजाती है—आत्मरस उसका भरण-पोषण करता है।

समृद्धि से सम्पन्नतम हो, अथवा सर्वात्मना क्षीणतम, जो अपनी-अपनी स्थिति में पूर्णरूप से दृढ़ता से स्थित रह कर, अपने भीतर शान्त रह कर स्थित रहता है, उसका रस से पोषण किया जाता है। यही स्थिति स्थितप्रज्ञ की है और वह "न हि दुःखेन विचाल्यते"—वह दुःख से विचलित नहीं होता।

रस ही परः पुरुष-अव्यय पुरुष हो अक्षर पुरुष का पोषण करता है और इसी प्रकार अक्षर क्षर का पोषण करता है। भूत इसका पोषण नहीं करते। यह भर्ता है, पोषण-भरण करता है इसलिए वह **भूतभृत्** कहा जाता है।

३. **प्रभुत्व**—रस और बल का स्वरूप सम्बन्ध होता है। फिर रस में स्वरूप से संसृष्ट बल अनेक प्रकार से रस पर आक्रमण-विक्रमण-चक्रमण करता है, परन्तु रस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता—रस को आक्रान्त नहीं कर सकता। सर्वदा ही उठे हुए—उत्क्रान्त बल पर रस का प्रभुत्व रहता है। इससे आत्मा बनती है—बल आत्मन्वी होता है। शान्त रस में क्षुब्ध बल का उदय होकर जबरदस्ती शान्ति नष्ट करना चाहता है। बल उठ-उठ कर गिरता है और फिर स्वयं विलीन होजाता है। शान्त रस पर विजय नहीं मिलती। रस निर्विशेष, निर्विकार ही बना रहता है।

बल स्वभाव से ही जिस-जिस प्रकार से जगत पैदा करता है वह प्रकृति कहलाती है। इसमें विज्ञान पुरुष की कला है। उससे धर्म और फिर व्यक्ति विशेष बनता है। वह व्यक्ति-पुरुष जगत को विशेष रूप से बनाता है। इससे प्रकृति में भेद पैदा होते हैं। लोक हित में यह प्रकृति को समुन्नत बनाता है।

निष्कर्ष—यह है कि ब्रह्म विभु है। बल कितना ही प्रबल हो पर रस को अभिभूत नहीं कर सकता। रस सर्वदा शान्त रहता है। बल उसकी शान्ति को भंग नहीं कर सकता। **जो बल जगत का निर्माण करता है वह प्रकृति कहलाती है। उसमें जो विज्ञान है वह पुरुष कला है।** वही जगत को विशिष्ट रूप प्रदान करता है। उसके ही कारण प्रकृति की विशिष्टता है और उसी से वह समुन्नत होती है।

प्रभुत्व का अर्थ समर्थता-अपराजिता है। रस विजयी होकर आत्म रूप से रहता है। मुख्य व्यापक रस में प्रादुर्भूत बल परिच्छेद्र दिखाता है। यही माया है। यही प्रकृति है। उसके परिच्छेद होने पर अंश (कला) पैदा होती हैं। कला से ही धर्म-गुण उत्पन्न होते हैं। कलाएँ—अंश अप्रधान होजाते हैं। व्यक्ति—पुरुष ही मुख्य होता है। वही प्रभु है।

यहाँ प्रकृति शब्द का निर्वचन भी दे देना अनुपयुक्त नहीं होगा। प्रकृति का निर्वचन है—"प्रकर्शं करोति हि प्रकृतिः"। 'प्र' शब्द प्रकर्ष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रकृति सब में सम-एक रूप है। प्रकर्ष में तारतम्य-तर तम भाव होता है। प्रकृति का यह भेद रूप सब में प्रत्येक पुरुष के सम्बन्ध से होता है। इस प्रकार प्रकृति का समुन्नेता पुरुष प्रभु कहा गया ।

४. **साक्षी**—क्षर, अक्षर, अव्यय तीनों ही पुरुषों के मिले हुए रूप द्वारा सृष्टि कर्म सर्वदा ही होता रहता है। फल का भोक्ता तो एक क्षर ही है। दूसरे तो अफल हैं—केवल साक्षी। जगत् निर्माण, स्थिति तथा लय अथवा जगत् रूप कार्य तीनों के संयुक्त रूप से ही होता है, परन्तु कर्म के कारण अक्षर और अव्यय में कोई विकृति नही होती। इसीलिए अक्षर, अव्यय ईश्वर हैं—साक्षी हैं। क्षर भोक्ता है। समस्त कर्मों से उसमें ही परिणमन-परिवर्तन होता है।

५. **सुहृदयता**—बल के कर्म के विस्तार होने पर ही—उसके अन्तरंग ही बल का विस्तार होता है। वह कभी अनुकूल होता है, कभी प्रतिकूल। बल के-तारतम्य के अनुसार ही सुख-दुख का भोग होता है अथवा कभी यह विस्तार उदासीन भी होता है। रस तो सर्वदा ही अनुकूल होता है। अनुकूलता ही उसकीसुहृदयता है।

६. **निवास**—यह जगत् कर्मसन्तानकृत आत्म मूर्त्ति है अर्थात् इसका स्वरूप कर्मों के सन्तान से बना हुआ है। यह कर्म करत हुआ रुकता है, विश्राम लेता है, थम जाता है तो कर्म की गति रूक जाती है। जगत्-कर्म-बल रस में–परमात्मा में जाकर ही विश्राम लेता है। यह आधिभौतिक दृष्टि है। बिश्व दृष्टि से, आधिदैविक दृष्टि से विचार करने पर भी रस बल का—कर्म का निवास है। सुप्त बल पहले रस में नया उदित हो परिवर्तनशील होने के कारण क्रम से जीर्ण हो कर शून्य होजाता है। इस प्रकार रस रूप ब्रह्म को जगत का निवास कहा है। दृष्टान्त रूप से, लहरी जल में उठती है, जल में ही निवास करती है, और अन्त में जल में ही लय होजाती है—वहीं वह शान्त होजाती है।

बल-कर्म-जगत् का निवास रस-परमात्मा-ब्रह्म है इस पर आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों से विचार किया गया। आध्यात्मिक दृष्टि से भी जीव का अन्तिम विश्रामस्थल परमात्मा ही है। जीव स्वप्न और जाग्रत में घूमता रहता है। अन्त में थक कर वह फिर आत्मा में ही शान्ति प्राप्त करता है। पाप्मा-कर्म-बल के निरस्त होजाने पर वह स्व स्वरूप आत्मा में ही अभय, आप्तकाम होता है। यही उसका स्वयं का विश्राम स्थल है जहाँ न शोक है, न मोह, क्यों कि वह एकत्व देखता है। यही उसका निवासत्व है। यही उसकी सुषुप्ति अवस्था है।

७. **शरणम्**—जब यह जीव शोक, भय आदि दुःखों से आक्रान्त होता है तब वह शरण में जाता है। वह अपनी आत्मा से पूछता है कि इसके पार कैसे जाऊँ, क्या करूं? निश्चय ही वह विज्ञानमय आत्मा उसके तरने का उपाय प्रकाशित करता है। यदि वह विज्ञान बल के अनुसार रक्षा का उपाय करता है तो भय से दूर-पृथक् होजाता है। वह अभय-निभय होजाता है।

यह शरणस्वरूप की व्याख्या है। "श्री कृष्ण शरणं मम"–यह पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय का महामन्त्र है।

८. **निधानत्व**—सम्पूर्ण क्षर व्ययमान–क्षरणशील है। फिर यह "सर्ववित्" कैसे नजर आता है? कारण यह है कि अव्यय ही रसप्रद है। यह पर ब्रह्म अव्यय ही सब का खजाना है, श्रोत है, निधान है।

९. स्थानम्—-स्थान का अर्थ प्रतिष्ठा है। वह रस से भिन्न नहीं प्रतीत होती। बल रस में प्रतिष्ठित है, अथवा यों कहें कि बल की प्रतिष्ठा रस है। स्वभाव से ही चलनशील बल जहाँ स्थिरत्व प्राप्त करता है वह स्थान यह रस ही है। प्रतिष्ठा और स्थान एकार्थक है।

१०. बीजत्व—रस से युक्त होकर बल एक रूप होकर, क्रियावान् होकर नाना-अनेक होता है। बल में क्रिया करके विशिष्ठ रूप से विकृत हुआ अव्यय उत्तरस्थ अर्थात् आगे के अक्षर का बीजकारण होता है।

रस और बल से बने विकृत अव्यय अर्थात् कुर्वद् बल विशिष्ट अव्यय से ही अक्षर और क्षर का प्रादुर्भाव होता है। अव्यय रूप परमेश्वर ही सब का बीज है।

मन अव्यय की एक कला है। उसे हम पर मन-अव्यय मन कहते हैं। यदि वह न हो तो जीव का प्रज्ञात्मकस्वरूप ही न बने. बल ग्रन्थि विशिष्ट सृष्टि में, प्रज्ञा में अर्थात् प्रज्ञानात्मा में मन का रस, अथवा मन रूप रस ही बीज—कारण होता है। वास्तव में मानव में प्रज्ञा का स्वरूप ही अव्यय मन के अन्तरनिहित होने से ही बनता है। प्रज्ञाबलग्रन्थि द्वारा की गई विशिष्ट सृष्टि होती है। उसका बीज रस रूप मन हां है।

प्रत्येक पुरुष की पञ्चकलाएँ होती हैं। उन आधिदैविक कलाओं के सार रूप से मनुष्यादि के शरीर में पाँच व्यावहारिक आत्माओं का प्रादुर्भाव होता है। स्वयं भू आदि के रस शरीर में प्रविष्ट होते हैं उनमें प्रतिफलित चैतन्य को आत्म कहते हैं। मुख्य चैतन्य आत्मा की प्रतिबिम्ब रूप होने से, ये ही व्यावहारिक आत्माएँ शरीर का संचालन करने वाली हैं। मुख्य आत्मा तो निर्विकार, निष्क्रिय है। स्वायंभू मण्डल का रस अव्यक्त अथवा सूत्र कहा जाता है और उसमें प्रतिबिम्बित आत्मा शान्तात्मा अथवा सूत्रात्मा कही गई है। परमेष्ठिमण्डल का रस महान है। यथा—'यो बुद्धेरात्मा महान् परः'।

सूर्यमण्डल का रस बुद्धि है। उससे अवच्छिन्न रस चैतन्य विज्ञानात्मा है। **चन्द्रमण्डल का रस मन है।** उससे अवच्छिन्न चैतन्य प्रज्ञानात्मा है जो प्रज्ञ कहा गया है। यही मुख्यतया शरीर की इन्द्रियों का परिचालक है। पृथिवी का रस शरीर है, इन्द्रियाँ हैं। उसमें प्रतिफलित चैतन्य प्राणात्मा-शरीरात्मा कहा जाता है। इनके **अवान्तर भेदों से अठारह आत्माएँ** बनती हैं। इनकी व्याख्या तैतिरीयोपनिषद् में की गई है। उदाहरण स्वरूप—अव्यय प्रज्ञा का बीज रूप है। प्रज्ञा चान्द्रमसी, चान्द्ररस मनोरूप प्रज्ञा में यदि अव्यय कला रूप परम मन, जिसे श्रुति में श्वोवसीयस् कहा है, अन्तरनिहित न हो तो प्रज्ञानात्मा का स्वरूप ही संघटित न हो, क्योंकि चैतन्य से ही आत्मस्वरूप की निष्पत्ति होती है। इसलिए बल ग्रन्थि बिशिष्ट क्षर रूप जो मन है उसे कार्य करने योग्य बनाने में अव्यय से आगत रस ही बीज-कारण होता है। यही अन्य आत्माओं के सम्बन्ध में भी लागू होता है। जैसे—बल के सम्बन्ध मात्र परिच्छेद से अव्यय पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। बल का प्रचय-चिति होने पर अक्षर पुरुष की और बल ग्रन्थियों के होने पर क्षर की संरचना होती है—यह ज्ञातव्य है। मूल तात्पर्य यह है कि **अव्यय–ईश्वर ही सब का बीज–सब का मूल कारण है।**

११. प्रभाव और १२ लय—रस में अव्यक्त बल प्रस्तुप्त रहता है। वह रस के समान-रसरूप-रस प्रतीक होकर उस रस में फिर लीन होजाता है। इसलिए यह रस इनका प्रभव और लय दोनों हैं।



१५. आत्माधिकरण

गत प्रकरणों में आत्मन्वी **पुरुषत्रय अव्यय,** अक्षर, क्षर का विवेचन किया गया है। **इस अधिकरण में आत्मा** का **निरूपण** किया गया है। **पहली निरुक्ति है**—जो कर्म को सत्तारस प्रदान करता है, जिसके होने पर कर्म सद् कहा जाता है, जिसकी सत्ता पर कर्म की सत्ता आधारित है, वह **भूमारस** ही कर्म की आत्मा है। वह रसावतार है और रसप्रद भी।

यह शक्ति सुप्त हो तो अव्यक्त रूप है। समय पर जिस-जिस में यह उदित होती है और ये अनेक भाव जहाँ से और जिसके भोगार्थ व्यक्त होते हैं, वह आत्मा कही गई है। आत्मा विकारों में भी अविकृत रहती है, इसलिए आत्मा **भोक्ता** कहलाती है। यह आत्मा की **दूसरी निरुक्ति** है।

आचार्य श्री मधु ने आत्मा की स्वभिमत व्याख्या की है। कहा है—जैसे "क्षमते:" का क्ष्मा, "जमे:" का ज्मा, गमे; का ग्मा होता है, इसी तरह "तमे:" अर्थात् कांक्षा—इच्छा, अशनाया से 'त्मा' होता है। च्यूँ कि इसमें अशनाया-कांक्षा-इच्छा है, इसलिए यह सर्वत्र व्याप्त होकर चाहता है और इसीलिए वह आत्मा है। यह आत्मा की **तीसरी निरुक्ति** है। 'तमु' शब्द कांक्षा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इससे उणादिक धातु के अन् प्रत्यय में उपधा के लोप होने पर 'त्मा' शब्द बनता है। यह आत्मा शब्द की निष्पत्ति है। फिर व्याप्ति अर्थक आङ्ग उपसर्ग के योग से 'आत्मन्' शब्द बनता है।

इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति-निर्वचन-निष्पत्ति के आधार पर आ+त्मा आत्मा वह है जो आकांक्षा करता हुआ परिछिन्नता को छोड़ कर विभुत्व की इच्छा करता हुआ, अशनाया बल से अर्चन् करता हुआ–चलता हुआ, अर्थात् इच्छा करते हुए—इच्छन् व्याप्त होता है। यद्यपि यह प्रक्रिया पुरुष संस्था (अव्यय, अक्षर, क्षर) में ही होती है, तथापि अशनाया का आधार रस ही है। इस प्रकार शुद्ध रस में भी आत्म शब्द का प्रयोग होता है।

कुछ लोग आत्मा को अत् शब्द से बना मानते हैं, परन्तु वे गलत है। उनको इसके मूल का पता नहीं है। पाणिनी के अनुसार 'अत्' शब्द से तो "त्मानम्" बनता है, न कि "त्मा"। यह व्याकरण का विशय है, अतः अधिक विस्तार सम्भव नहीं। लोक में **"आत्मा" शब्द के तीन प्रकार** से **प्रयोग** प्रचलित हैं। एक **सर्वनामा, निरूपक,** अथवा **संज्ञा**/सर्वनामा अर्थात् सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति बताने वाला जैसे, मृदात्मक, प्रस्तरात्मक इत्यादि। इस प्रकार सर्वत्र ही आत्मा शब्द का प्रयोग होता है। (2) **सनिरूपक**—किसमें ? जिसके लिए ऐसी जिज्ञासा हो (3) **संज्ञारूप**। आत्मा न्याय में नौ द्रव्यों में एक द्रव्य गिना जाता है। परन्तु आत्मा शब्द अपने 'आन्तरत्व'–अन्तरवर्तित्व अर्थ को नहीं छोडता।

आत्मा रस है और बल इसकी शक्ति। शक्ति विहीन रस नहीं हो सकता। यह बल रस में अव्यक्त रूप से प्रवाहनित्य रहता है। वह 'नहीं है' ऐसा कभी नहीं होसा है। यह बल विशेष रूप धारण करता हुआ रस में कहीं व्यक्त होता है, कहीं नहीं। यथा—"क्वचित् विभातं,

क्वचितत्तरोहितम्" भागवत् । सारा बल एक हीं समय साथ ही न विलीन होता है, न उदय होता, न दिखता है । व्यक्ति रूप से बल उदय होता है, विलीन होता है । बल का सामान्य रूप से अभाव तो कभी भी, कहीं भी नहीं होता । बल न एक साथ उदित होता है, न दिखता है । सामान्य रूप से सर्वत्र सर्वदा रहता है । विशेष रूप से वह रस में कहीं व्यक्त होता है, कहीं नहीं होता । जब विलीन होता है तो एक साथ विलीन हो जाता है ।

जहाँ भी कोई वस्तु है वहाँ सर्वत्र ही ध्रुव शक्ति दिखाई देती है । जिसमें यह पृथक्-पृथक् शक्ति दिखाई देती है वह आत्मा है—वह रस है । शक्ति सर्वत्र पृथक् रूप है, शक्त्याश्रय एक रूप है ।

आत्मा के दो रूप कहे हैं । प्रथम आत्मा का रूप तो **अखंड** है और दूसरे अन्य रूप का नाम है **कर्म्मात्मा** । शुद्ध रस आत्मा अखंड, अमृत, अभय है और शुद्ध बल शक्ति । यह निरूपक आत्मा का विवेचन है । शुद्ध रस सदा ही आत्मा कहलाता है । दूसरा बल विशिष्ठ आत्मा है जो वस्तु का उत्पादन करता है । जिसका वह उत्पादन करता है उसका वह आत्मा कहलाता है । वह सखंड है, कूटस्थ नित्य नहीं । वह कर्म्म विशिष्ठ होने से कर्म्मात्मा कहलाता है । इसके अतिरिक्त अन्य और भी जिनके लिए आत्म शब्द प्रयुक्त होता है वे कर्म्मात्मा ही समझे जाने चाहिऐं । इसका कर्म को छोड कर स्वरूपत: आत्मत्व नहीं है । यहां आत्मा शब्द सनिरूपक ही होता है । कर्मरूप बल का आत्म स्वरूप में प्रवेश नहीं है । और कहीं अनेक कर्म्मों के परम्परा से मिले हुए संयुक्त रूप में भी एक आत्मा माना गया है । कहीं एक ही कर्म से अन्य कर्म्मों की चिति होती है । वहाँ एक आश्रयभूत कर्म को भी आत्मा ही कहते हैं । कर्म में प्रविष्ठ भी शुद्ध रस अभोक्ता होता है । कर्मरूप आत्मा कहीं भोक्ता, कहीं अभोक्ता होता है । इस प्रकार **कर्मात्मा में भी तीग प्रकार की आत्मा** समझना च हिए । एक **अखंड** आत्मा, एक **शुद्ध रस अभोक्ता**, तथा तीसरा **भोक्ता** ।

शुद्ध रस में शुद्ध बल के प्रयोग से बना जो पर—**अव्यय पुरुष** है वह **शुद्ध आत्मा** है । उसमें बलों के आत्म स्वरूप हो जाने पर भी वह शक्ति उसके लिए भोग्य क्षर अर्थ नहीं देती । बल विशिष्ठ होने पर भी वह अक्षर और क्षर की आत्मा है, परन्तु वह भोक्ता नहीं है । बल रूपा प्रकृति भोग्य अर्थ को नहीं देती, क्यों कि वह अविकारी है । बल उसके स्वरूप में प्रविष्ट है । यह कर्म्मात्मा ही है, भोक्ता नहीं ।

दूसरा **अक्षरात्मा** है । वह अक्षर पुरुष आत्मा है, ईश्वर है और सर्व नियोजक भी । सूर्य वाह्यदोष से लिप्त नहीं होता, वैसे ही यह भी कर्मफल से प्रभावित नहीं होता ।

तीसरा **क्षरात्मा** है । यह भोक्ता है । कर्मों से उसका स्वरूप सम्पादन होता है और कर्म से ही उसकी स्थिति है । वह नित्य कर्म करता है और नित्य ही उनके अच्छे-बुरे फलों को भोगता है । यही जीवात्मा कहलाता है । **जीव क्षरात्मा** है । इसी के लिए कहा है—"आत्मानं रथिनं विद्धि' तथा "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्त्येत्याहुर्मनीषिण:" (कठ) ।

आत्मा चिदाभास है—यह वेदान्त कहता है। यह इन्द्रियमनयुक्त आत्मा है। यही भोक्ता है। यही प्रज्ञानात्मा है। इस इन्द्रिय-मन-विशिष्ठ भोक्तात्मा को पशु भी कहा गया है।

अखंड आत्मा तुरीय पाद है। अन्य तीन पाद है—अव्यय (पर), अक्षर, क्षर। एक ही आत्मा चतुष्पाद है।

विशुद्ध रस परात्पर है। जो उत्तम पुरुष है वह पर-अव्यय हैं। अक्षर परावर है और क्षर अवर। ये आत्मा के विशेष नाम हैं।

कर्मात्मा नामक आत्मा भी चतुष्पाद माना गया है। तुरीय उसका एक पाद है। अन्य तीन पाद हैं—अक्षर, क्षर, पशु। पहले कर्मात्मा के तीन पाद ही कहे हैं। वहाँ पशु का क्षरात्मा में ही अन्तर्भाव किया गया था। यहाँ भोक्ता—पशु को चौथा पाद माना है। यह केवल विवक्षा भेद है–वस्तु भेद नहीं ॥

आत्मशक्ति के मात्रा-मिति-माया के कारण क्षरात्मा में एक सौ आठ (१०८) पृथक् खंड होते हैं। तथा अक्षरात्मा के अठारह (१८) खण्ड माने गये हैं। पर—अव्यय त्रिखंड है, किन्तु रस अखण्ड है।



१६. सिंहावलोकत

ब्रह्म द्विधा है—आभु और अभ्व । आभुअवाङ्ग मन, अगोचर, निर्विशेष है । इसलिए वह अज्ञेय और अनिर्वचनीय है । **कर्म, नाम, रूप अभ्व है । यह विश्व ही अभ्व है ।** यह भी दो तरह का हैं—व्यष्टि, समष्टि अथवा दहर, उत्तर । उत्तर भूमा है, दहर अणिमान्त है । दोनों ही सीमित (मित) हैं । भूमा के अन्त तक और अणिमा के अन्त तक जितना विश्व है एक है । उत्तर हो अथवा दहर **यह द्विधा विभक्त है ।** बाहर तन्त्र है और भीतर सुसूक्ष्म परिचालक । तन्त्र शरीर और परिचालक आत्मा कहलाता है । वही शरीर धारण करने वाला है । इसे ही शारीरक कहते हैं । यही लोहकिट्टवत् शरीर बनाता है । आत्मा के शरीर नहीं होता । आत्मा शरीर से पृथक् है । एक एक आत्मा दहर है, अणु है, अल्प है । वह अणु में व्याप्त है । प्रत्येक एक दूसरे को व्याप्त करता है । अणु और भूमा में आत्मा ही व्याप्त है ।

आत्मा के तीन भाग हैं—वाक्, प्राण, मन । वाक् अन्न है, अर्थ है, प्राण बल और क्रिया हैं; और मन विद्या और ज्ञान को उत्पन्न करता है । परन्तु सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कार्य, कारण की एकता के कारण ये भी एक ही हैं ।

प्राण और वाक् संयुक्त हों और मन का संचार हो वह रूप है वेद । ऋक्, साम में यजु निविष्ट रहता है और ऋक् में साम व्यूढ–अधिरूढ है । इन वाक्, प्राण, मन से वेद, यज्ञ, लोक की सृष्टि होती है । इनमें मन, प्राण, वाक् एक दूसरे में गुण रूप से प्रधान भाव रखते हैं । जब प्राण, वाक् संयुक्त हों और मन का संचरण हो, अर्थात् प्राण, वाक् वाहन हो तो मन प्रधान होता है । तब वेद रूप का आविर्भाव होता है अर्थात् वेद की सृष्टि होती है । वेदों में भी ऋक् और साम दोनों में यजुः निविष्ट है । ऋक् और साम वर्तनी–वाहन हैं और यजुः उनमें अधिरूढ मुख्य है । ऋक् और साम में भी साम ऋक् में अधिरूढ है ।

यदि वाक् वर्तनी-वाहन-माध्यम-Conductor हो, और मन उससे जुड़ा-युक्त हो–सम्बन्ध करता हो और प्राण संचार करे उसे **यज्ञ** कहते हैं । मन, प्राण, उर्क का त्रितय तीनों में ही है । उद्भव के लिये एक दूसरे को ग्रहण करते हैं । वर्तनी का अर्थ वाहक है । यज्ञ अन्न, उर्क, प्राणों का उत्तरोत्तरी भाव है । अर्थात् जो हवन किया जाय वह अन्न, हवन किया गया अन्न उर्क रूप में बदलता है । ऊर्ग-ओज अन्न और प्राण की मध्य की अवस्था है । ऊर्क प्राण रूप में बदलता है । फिर प्राण से अर्क-ऊर्जा से अन्न । इस प्रकार क्रम चलता है । इस क्रम में मन, प्राण, वाक् सर्वदा ही रहते हैं ।

(वर्तमान विज्ञान Science का यह निष्कर्ष कि Matter changes into Energy and Energy into matter कुछ इसी प्रकार का है ।)

प्राण और मन संयुक्त हो और वाक् संचरण करे तो यह हुआ लोक-लोक सृष्टि । जो उत्थित हो वह उक्थ । अशिति का निर्वचन है—'अश्नाति' खाता है 'इति'–इससे अशिति । अर्क अर्थात् मृत्यु । जो अर्च है, अर्चन् करता है—चरति-चलता है वह अर्क–यह अर्क का निर्वचन है ।

मृत्यु बल चारों ओर से सबको घेरता हुआ—घूमता हुआ चलता है इसलिए उसे अर्क कहते हैं। उसी से अप् की उत्पत्ति होती है ओर अप् से ही लोक होते हैं। श्रुति है—

"अशनाया हि मृत्युः तन्मनो कुरुत आत्मन्वीस्यामिति ।
सोऽर्वन् चरति, तस्यार्चत आपोऽजायन्त ।
अर्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम् ॥"

(बृ० उप० अ० १, ब्रा० २, क० १)

वहीं आगे कहा है—**"त्रयो लोका एत एव, वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ।"** (बृ० उप० १/२/१) इत्यादि।

यह वाक्, प्राण, मनोमय अर्थ आत्मांशभूत है, न कि पूर्ण आत्मा। आत्मा सत्ता, चित्, आनन्दमय है। सत्ता है वाक्प्राणमनोमय अर्थ।

सत्ता, चित्, आनन्द—ये तीनों आत्मरूप हैं। इनमें समान रूप से उदित—व्यक्त सत्ता रूप आत्मांश है। पूर्व में ऊपर चित् और आनन्द को भिन्न-पृथक् बताया है। इससे यह शंका होती है कि चित् तो मन की ही परिणति—वृत्ति है उसे मन और प्राण से पृथक् कैसे कहा गया ? इस शंका के निवारणार्थ कहा है कि—वास्तव में चित् शब्द का अर्थ नित्य आत्मरूप विज्ञान है। मन उससे पृथक् है। चित् के मन में प्रतिफलन से वृत्यात्मक ज्ञान होता है—यह चिदाभास है। मुख्य चित् तो ज्ञान रूप एक, ध्रुव, नित्य है। जो अन्य अन्य भिन्न-भिन्न रूप से बदलता है वह मन ज्ञान में संकल्प-विकल्प रूप है। मनोवृत्तियां तो ज्ञान रूप, परिवर्तनशील, संकल्प-विकल्प रूप कही जाती हैं।

चिद्-ज्ञान की तरह आनन्द भी द्विविध है। एक रस और दूसरा बल—एक आत्म रूप और दूसरा बल सम्बन्ध से उद्भूत। एक भूमा, दूसरा समृद्धि। समृद्धि बलात्मक है। इससे भिन्न रसात्मक शान्तिघन है। भूमानन्द रसात्मक शान्त्यानन्द है और समृध्यानन्द बलात्मक। श्रुति है—"यो वै भूमा तत्सुखं, यदल्पं तद् दुःखम् ।" आत्मानन्द—रसानन्द शान्तिरूप है। इससे मन की चंचलता रूप क्षोभ दूर हो जाता है। यही मुख्य आनन्द है।

बलात्मक आनन्द, ज्ञान-विज्ञान, मन, प्राण और अन्न ये पांचों ही कोश हैं और इनमें प्रविष्ठ जो रस है वह आत्मा है—रस है। वह उपासनीय है।

तैतिरीयोपनिषद् में इन पंच कोशों की व्याख्या की गई है। कोश का अर्थ आवरण है। कहीं कोश का अर्थ निधान, घर, खजाना है अर्थात् जहां प्रचुरता से किसी की उपलब्धि होती है वह उसका कोश है। मयट् प्रत्यय विकारार्थक तथा प्राचुरार्थक दोनों है। 'ब्रह्मसूत्र' के 'आनन्दमयोऽभ्यासात्" (१/१/१२) की व्याख्या में 'मयट्' को लेकर आ. शंकर और आ. मधु में कुछ मतभेद है। यहाँ उसके विस्तार का अवसर नहीं है। आ. मधु के 'शारीरक विज्ञान भाष्य' के सम्बन्ध में विवेचन करते समय इस पर कुछ प्रकाश डाला जायगा। जिज्ञासुओं को शांकर भाष्य और आ. मधु के 'शारीरक विज्ञान भाष्य' से ही इसका अनुशीलन करना चाहिये।

रस और बल की बहुलता से आनन्दमय सिद्ध है। दूसरा विज्ञान सत्ता का स्वभाव है। सत्ता वाक्प्राणमनोमय अर्थ है। इन पांचों से अन्य कहीं कुछ नहीं है।

इनमें बाहर बाहर के क्रमश: शरीर हैं। उनके भीतर भीतर व्याप्त आत्मा है। पांचों ही कोश शरीर हैं। आत्मा अखण्ड-परम रस है। शरीर रूप मनोमयादि का आत्मा विज्ञानमय, और शरीर रूप विज्ञानमयादि का आत्मा आनन्दमय यों पाँचों ही आत्मा भी हैं और शरीर भी। परम रस तो सबकी ही आत्मा है। नीचे भी, ऊपर भी वह आत्मा असीम, नि:संग रस है। अव्यय के पांचों कोश उसके आश्रित हैं और अक्षर के धातु-ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि और सोम अव्यय के आश्रित हैं।

अक्षरात्मा पाँच हैं—ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि और सोम। अक्षर अग्नि को अन्यक्षर अग्नि आवरित करती है—'वृणुते' और उसमें यज्ञ का प्रवर्तन होता है—यज्ञ की क्रिया होती है। फिर उससे सृष्टि। अक्षर की कला अक्षर प्राण रूप अग्नि में जब क्षर अग्नि उत्पन्न होकर चारों ओर फैलती है उससे यज्ञ होता है और यज्ञ से सृष्टि।

त्रिपुरुष प्रादुर्भाव, उनकी कलाओं का उदय, कोश निर्माण, वेद सृष्टि, यज्ञ सृष्टि और और फिर स्थूल सृष्टि—यह सब रस में बल के संसर्ग से होता है। यह रस-बल संसर्ग दो प्रकार का होता है—एक स्वरूप संसर्ग और दूसरा वृत्तित्व संसर्ग। स्वरूप संसर्गवश आत्मा होती है और वृत्ति से शक्ति।

स्वरूप संसर्ग तीन प्रकार का होता है—बन्ध, योग, और विभूति। विभूति सम्बन्ध अनुग्रह से ही होता है। जो कर्म कौशल है वह योग है। "योग: कर्मसु कौशलम्"—गीता में इसका अर्थ भिन्न है। श्री चतुर्वेदीजी कहते हैं कि नवनवोत्पादन शक्ति ही कर्म में कौशल है—यही योग है। बन्ध संग के अतिशय-आधिक्य के कारण होता है। इन तीनों से आत्मा बनती है—उसका सस्कार होता है। यथा—"स आत्मा एभिस्त्रिभि: संस्क्रियते।"

जहाँ ग्रहातिग्रह भाव सिद्धि है वह वृत्तिता है। और उसी से भोग सिद्धि है। संसर्ग होने पर एक दूसरे से ग्रहीत होता है अर्थात् **एक का दूसरा परतन्त्र-आधीन-आश्रित होता है उसे ग्रहातिग्रह भाव कहते हैं।** जहाँ वृत्तिता सम्बन्ध है वहीं भोग होता है। जो परतन्त्र है वह भोग्य है और जो स्वतन्त्र है वह भोक्ता।

स्वरूपानुगत तीन प्रसर्गों-सृष्टियों के कारण तीन स्वतन्त्र आत्मायें पैदा होती हैं। मन विभूति योग से होता है, योग से प्राण, और बन्ध से वाक् होती है। इस मन, प्राण, वाक् के संयुक्त त्रिक् से ही सारी सृष्टि होती है। अन्नाद्, उसका अवपनम्-आधार, अन्न यह सब त्रिक्-मन, प्राण, वाक् ही है। न अन्न क्षीण होता, न अन्नाद् कभी निरन्न होता। इस प्रकार ये दोनों-अन्न, अन्नाद् तथा इनका आधार प्रतिष्ठित रहता है।

एक त्रिक् है—मन, प्राण, वाक् का। इस त्रिक् की समष्टि-समुच्चय-समवाय आत्मा है। इसी प्रकार एक त्रिक् है—सत्व, रज, तम जिसकी समष्टि प्रकृति है—शक्ति है। जैसे कर्मात्मा

में अव्यय, अक्षर, क्षर रूप त्रिक् है, वैसे ही शक्ति में भी महान्, अहंकार और क्षर की तन्मात्राऐं हैं। क्षरात्मा पुरुष भी दो प्रकार का कहा है—आत्मक्षर अभोक्ता और पशुक्षर भोक्ता। अभोक्ता आत्मक्षर की शक्ति तन्मात्रा की समष्टि और पशुक्षर की विभक्त पंच तन्मात्राएं। ये ही भोग्य उपस्थित करती हैं।

मन-वियत आवपन-आधार है, प्राण अन्नाद् है और वाक् अन्न। यह त्रितय-मन, प्राण, वाक् अथवा आवपन, अन्नाद्, अन्न अव्यय, अक्षर, क्षर में प्रतीत होता है। यज्ञ प्रक्रिया से अन्न, अन्नाद् सम्बन्ध अविच्छिन्न सर्वदा चलता रहता है। त्रिपुरुष का भी इसी से स्वरूप निर्माण होता है।

मन को खं कहा गया है। कुछ मन में स्थित अन्न सहित प्राण को कं कहते हैं। इसी तरह मनस्थ प्राण को अमृत तथा वाक् को मृत्यु कहा गया है। कहीं प्राण को क्षत्रिय, वाक् को बिश् तथा मन को ब्रह्म माना है। इस त्रिक् में प्राण वाक् का नियोजक है और प्राण मन का। छान्दो० उपनि० के चतुर्थ प्रपाठ के दशम खण्ड में उपकीश के उपदेश में श्रुति है—

"प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्मेति। विजानाम्यहं यत् प्राणो ब्रह्म, कञ्च तु खं च तु न विजनामि। ते होचुः यदेव कं तदेव खं तदेव कं इति। प्राणं च हासौ तदाकाशं चोचुः ॥इति ॥"

जैसे ब्रह्म और विट् क्षत्र से अपनी स्थिति बनाते हैं उसी प्रकार मन अथवा वाक् प्राण के कारण स्थिति प्राप्त करते हैं। प्राण इनमें श्रेष्ठ है। ये साथ ही उदित होते हैं, सब नित्य ही साथ रहते हैं। और मन प्राणमय वाक् को अधिष्ठान बना उसके अंग रूप ही रहता है। इन तीनों आत्माओं का परस्पर सम्बन्ध समवाय सम्बन्भ कहलाता है। ये एक दूसरे में-अन्योन्य समवेत रूप हैं। और बिना एक के दूसरे की कहीं स्थिति नहीं है। प्राण, वाक्, मन का परस्पर सम्बन्ध इसो प्रकार का है।

ऊपर प्राण, वाक्, मन के त्रिपुरुष कहे गये। तीनों प्रत्येक पृथक् पृथक् पुरुष हैं। ये परस्पर संहित रूप से एक मूर्त्ति बनाते हैं जिसे भी पुरुष ही कहते हैं। यह तीनों की एक संयुक्त मूर्त्ति है। वह वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय जो एक आत्मा है वह सनातन प्रभु है। श्रुति में कहा है कि यह त्रिविक्रम तीनों ही विक्रमों से—बलों से जगत् का चक्रमण करता है। उत्तम, अक्षर, क्षर तीनों ही उसके विक्रम माने जाते हैं। वास्तव में जगत् में कहीं भी कुछ भी वस्तुगत रूप से ऐसा नहीं है जो इन तीनों पुरुषों के बिना किया गया हो। वस्तुतः जगत् इन तीन पुरुषों की ही कृति है। तीनों की समष्टि कर्म्मात्मा कहलाती है। वह त्रिबिक्रम है। उसके तीन विक्रमों से ही जगत् की उत्पत्ति है।

अन्न और अन्नाद दोनों मिलकर अपने आधार में स्थित सृष्टि करते हैं। न अन्न क्षीण होंता है, न अन्नाद निरन्न रहता है और दोनों अपने आधार में स्थित रहते हैं—आधार से च्युत नहीं होते। इस प्रकार अन्न, अन्नाद और उसके आधार—आवपन-प्रतिष्ठा से ही सृष्टि हीती है। तीनों ही—अव्यय, अक्षर, क्षर पुरुषों में इनकी एकरूपता हैं। इस कारण अव्यय-पर आवफ्न-आधार-प्रतिष्ठा है,

अक्षर अन्नाद् है और क्षर उसका अन्न। अक्षर में कर्मफल के भोक्तापन का निषेध है, परन्तु इस अन्न के भोक्तृत्व का नहीं। अन्न, अन्नाद भाव तो स्वाभाविक है। यथेच्छ विनियोजन करके आत्मसात करना ही अन्नादपन–अन्नादत्व है। अलबत्ता सुख-दुख का अक्षर में अभाव है।

इन त्रिपुरुषों में पर-अव्यय और अक्षर अमृत कहे जाते हैं और क्षर मृत्यु। यह मृत्यु अमृत में स्थित है। मृत्यु अमृत को प्रतिक्षण खा रही है, फिर भी अमृत क्षीण नहीं होता। उदाहरणार्थ—सोम अन्न है, अग्नि अन्नाद्। अग्नि सोम को खाती है—आत्मसात् करती है, परन्तु स्वरूप से सोम नष्ट नहीं होता। अग्नि द्वारा ही फिर उसकी कमी पूरी कर दी जाती है। इसी प्रकार रयि प्राण में प्रविष्ठ हो उसकी कमी पूरी कर देता है। यही यज्ञ प्रक्रिया है। इससे जगत् की उत्पत्ति होती है और इसी से इसकी स्थिति है।

स्वरूप संसर्ग का पहले उल्लेख हुआ है। रस, बल का यह स्वरूप संसर्ग दो प्रकार है–एक विशुद्ध रस, बल का और दूसरा संसृष्ट रस, बल का। रस, बल के संसृष्ट को भी फिर ग्रन्थिका, ग्रन्थिक भेद से दो तरह का माना जाता है।

संशुद्ध तीन सर्गों से जो प्राण, वाक्, मन होते हैं उन आत्माओं से जिसका प्रथम प्रवर्तन होता है वह अव्ययात्मा है, वह उत्तम पुरुष है। शुद्ध रस, बल के सम्बन्ध से ही तीन शुद्ध सर्ग–सृष्टियाँ होती हैं। ये हैं–प्राण, वाक्, मन। इनसे जो प्रथम सर्ग-सृष्टि होती है वह है अव्यय-पर-उत्तम पुरुष। यह पुरुष शुद्ध वाक्, प्राण, मन संयुक्त है। यह इन तीनों की समष्टि रूप है। गीता में इसी के लिए कहा है—"उत्तमपुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत:।"

शुद्ध रस, बल से जो वाक्. प्राण, मन उद्भूत हुये उनकी समष्टि अव्यय पुरुष है। संसृष्ट हुए रस, बल के योग से फिर वाक्, प्राण, मन उद्भूत होते हैं उनकी समष्टि अक्षर पुरुष है। यही ईश्वर कहा गया हैं। फिर पुन: संसर्ग से ग्रन्थि पड़ने पर ग्रन्थि पड़े रस, बल से जो वाक्, प्राण, मन होते हैं उनकी समष्टि क्षर पुरुष है। इसी को पहले त्रिविक्रम कहा गया है। यह हुआ पुरुष वर्णन।

उक्त तीनों पुरुष स्वरूपसंसर्गबलाश्रय हैं। इनमें ध्रुव वृत्तिमती शक्ति होती है। शक्तियों का पुरुषों के साथ वृत्ति रूप सम्बन्ध होता है। जब शक्तियों का भी स्वरूप सम्बन्ध होता है तब फिर शक्ति उत्पन्न होती है। परमात्मा की यह शक्ति शाश्वत है। जब पर-अव्यय का शक्तिबल अव्यय के रस से अन्वित होता है तब शाश्वत का उदय होता है। वह पर-अव्यय पुरुष-पुरुषोत्तम में स्थित रहता है। तथा अक्षर की भी जो शक्ति है उसका बल अक्षर के रस में अन्वित होता है उससे जो अनित्य क्षर उत्पन्न होता है वह अक्षर में नित्य ही स्थित रहता है।

अपने अन्तस्थ परा शक्ति अवर आत्मा की सृष्टि होने पर कृतार्थ हो जाती है, अत: इनके आत्म-भोग उदय ही नहीं होता और इसलिए इनके कर्मफल की भोक्तृता सम्भव नहीं होती। क्षर की शक्ति से क्षर के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा उत्पन्न ही नहीं होती। जो होता है वह क्षर ही होता है। वही उसका भोग्य है जिसे वह सदा भोगता है।

शक्ति भेद के कारण पुरुष तीन प्रकार के है-अव्यय, अक्षर, क्षर । पूर्व पुरुष की शक्ति से अवर पुरुष होकर उसमें स्थित रहता है और वह सर्वदा ही शक्तिमान है । शक्तियाँ पुरुषों में ही रहती हैं, पुरुष भी शक्ति से ही पैदा होते हैं । अक्षर पर-अव्यय की शक्ति में स्थित होता है और क्षर अक्षर की शक्ति में । अक्षर में और अव्यय में उसका भोग नहीं होता । सब क्षर अक्षर में है और अक्षर भी अव्यय में निगूढ है । उससे कभी पृथक् नहीं होता । उसका यह सम्बन्ध ग्रहातिग्रहभाव रूप कहा गया है, अर्थात् उनमें एक प्रमुख, स्वतन्त्र होता है और दूसरा गौण, परतन्त्र । जहाँ एक दूसरे के अधीन रहते हैं उसे ग्रहातिग्रह सम्बन्ध कहते हैं ।

इस प्रकार उत्पत्ति क्रम की दृष्टि से अव्यय सर्वाधार है, उसमें अक्षर आहित है और अक्षर में क्षर तथा क्षर में भोग्यमात्र । किन्तु लोक में इससे उल्टा देखा जाता है । लौकिक दृष्टि में क्षर में अक्षर और फिर अक्षर में पराव्यय को निगूढ़ देखते हैं । यह विपर्यय–उलटी रीति ही है । यह सत्य है कि क्षर त्रण-तिनके में जो अक्षर और उसमें जो अव्यय-पर हैं वह भीतर भीतर निगूढ हैं । लोक दृष्टि में तो जो तिनके को देखता है उसको तिनके का ऊपरी भाग, नाम, क्रिया, रूप जो क्षर रूप हैं, पहले दिखाई देता है । फिर अक्षर रूप स्थिति इत्यादि पर और अन्त में उसके अन्तरतम अव्यय पर दृष्टि जाती है ।

क्षर में जो वाक् पुरुष है वह आत्मा है । वह फिर तीन विक्रमण करता है । वे तीन विक्रम हैं—तेज, अप्, अन्न । इस प्रकार वह एक ही अनेक प्रकार का–बहुधा देखा जाता है । तेज, अप्, अन्न क्षर की गति–विक्रमण के कारण उत्पन्न उस गति के ही रूप हैं । यह आत्मा अन्नमय है और अपने तीसरे पर्याय में भी फिर त्रिविक्रम करता है जिससे जड़, स्थावर, चेतन भेद होते हैं । आचार्य मधु कहते हैं—"एतावदेव जगदुच्यते"—यही जगत् कहलाता है ।

इसी सबका आगे क्रम से विवेचन किया जायगा । पहले पर-अव्यय का, फिर अक्षर का और फिर क्षर का । कहा है :—

"एतावदेतज्जगदुच्यते तत् सर्वं क्रमेणेह विवेचयामः ।
पूर्वं परन्तं च ततोऽक्षरं तं ततः क्षरं तं च निरूपयामः ॥"



द्वितीय भाग

१७. परधर्माधिकरण

प्रारम्भ में जिन अव्यय के धर्म—वाक्, प्राण, मन का उल्लेख किया गया है उनको ही क्रमश: प्रतिष्ठा, विधृति तथा ज्योति कहा है। वाक् प्रतिष्ठा, प्राण विधृति, और मन ज्योति है। तात्पर्य यह है कि जगत में सर्वत्र रस ही विभिन्न रूपों में भासित होता है। रस ही प्रतिष्ठित है — प्रतिष्ठा विशिष्ट है, पूर्ण अर्थात् विधृत है, ज्योतिर्मय अर्थात् ज्ञान प्रधान है। अणिमा और भूमा— दोनों में रस पूर्ण ज्योतिर्मय है।



१८. ज्योतिराख्यान—मात्रा विकासाधिकरण

ज्योति का अर्थ ज्ञान है। जो अपने स्थान पर स्थित रहकर ही अति दूर स्थित ज्ञातव्य वस्तु को अपने से निकलने वाली किरणों से छूती है और छूकर उस रूप हो लौट जाती है उसे ज्योति कहते हैं। यही विकाश है—यही ज्ञान है।

ज्योति तीन प्रकार की है—एक क्षर, भूतज्योति; दूसरी अक्षर, ज्ञानज्योति जिसे विकाश कहा है। तीसरा इसका रूप है अव्यय। क्षर में अक्षर, तथा अक्षर में अव्यय निगूढ है। पुरुष त्रय की तरह ज्योति भी त्रिविध है। जिससे "दिखता है"— ऐसी बुद्धि प्रवृत्त होती हैं उसे ज्योति कहते हैं और "न विभाति"—नहीं दिखता यह बुद्धि हो उसे तम कहते हैं। यह ज्योति ही ज्ञान है। भौतिक ज्योति इससे पृथक् है। ऐसी ज्योति नहीं जिसके भीतर तम न हो, अथवा कहीं ऐसा तम नहीं जो ज्योति रहित हो। ज्योति घन में भी अन्दर अन्दर अंधेरा (तम) होता है। इसी प्रकार गहन अन्धकार में भी—तम में भी ज्योति होती है। तमस् के तारतम्य से ही ज्योति के स्वल्प और महत् भेद होते हैं। इसी प्रकार ज्योति के तारतम्य से ही तम में भी कम, अधिक विशेषता होती है।

जैसे ज्ञान बिना अज्ञान के नहीं होता और अज्ञान भी ज्ञान हीन नहीं होता, इसी प्रकार बिना अन्धकार के प्रकाश नहीं और न बिना प्रकाश के अन्धकार। ज्योति दिव्य हो अथवा भौतिक भी, तमसानुविद्धता—अन्धकार युक्त होना दोनों में समान है। ज्ञान अज्ञान से आवृत्त है, इसी से मनुष्य अज्ञानानुसार ही विमोहित होते हैं और ज्योति सदा क्षरसत्व पर आश्रित है। वह क्षर सत्व अल्प होने पर ज्योति अल्प होती है और महत् होने पर महान्। अल्प सत्व मूर्ख होता है और ज्योति में सत्व की अधिकता दूरदर्शिता कहलाती है। निष्कर्ष यह है कि ज्योति—विकाश एकार्थक हैं। वाक्, प्राण, मन अथवा प्रतिष्ठा, विधृति, ज्योति तीनों सर्वत्र व्याप्त हैं, अणोरणीयान में भी और महतो-महीयान में भी। ज्योति तीन प्रकार की है—१. भूत ज्योति, क्षर; २. ज्ञान ज्योति, अक्षर; ३. विकाश, पराव्यय। ज्योति-तम, ज्ञान-अज्ञान सर्वत्र व्याप्त हैं।

ज्योति—विकाश तीन प्रकार का है—१. मात्रा ज्योति, **२. संस्था** ज्योति, **३. दीप्ति** ज्योति। फिर ये प्रत्येक तीन तीन प्रकार के हैं। इस प्रकार **ज्योति के नौ पद** माने जाते हैं। यही नवधा ज्योति नव दुर्गा हैं। इनके नैदानिक रूपों का समुचित विश्लेषण आ० मधु के अन्तेवासी शिष्य विद्वत्वर स्व० पं० मोतीलालजी ने अपने ग्रन्थ—"संस्कृति और सभ्यता" में अच्छा किया है, जिज्ञासुओं के लिए अवलोकनीय है।

मात्रा विकाश दिक्, देश, काल रूप से, संस्था विकाश रूप, भाव, प्रसादन रूप से तथा दीप्ति विकाश प्रज्ञान, चिद्, भूत रूप से होते हैं। इनमें ही जगत का सारा विकाश समाहित है।

भूमा-अणिमा का रस स्वभाव से ही प्रतिबिन्दु सर्वोन्मुख विकाश करता है। रस अणु से भी अणु हो–अणोरणीयान् अथवा महत् से भी महत्–महतोमहीयान् हो, दोनों के रस प्रतिबिन्दु नित्य विकाश रूप हैं। रस में तो अल्पत्व तथा महत्ता नहीं होती। वह तो सर्वत्र एक रस व्याप्त है। पात्मा कहे जाने वाले बल में मात्रा है। जितना बल जहाँ व्याप्त होता है, वहाँ उतना ही रस का विकाश प्रतीत होता है। ज्योतिष्मान् किसी एक अणु, अतिअणु का ज्योति विकाश अल्प अथवा महान ही होगा। जैसे आकाश का विकाश, सूर्य का विकाश महान से महान है। विकाश का यही लक्षण है।

पदार्थ ज्योति की दृष्टि से चार प्रकार के हैं––१ स्वयं ज्योति, २. पर ज्योति, जैसे चन्द्रादि, **३. रूप ज्योति** जैसे पृथिवी के पदार्थ, **४. अज्योति** जैसे वायु आदि।

पूर्व में स्वयं ज्योति पदार्थों के सम्बन्ध में कहा गया था। पर प्रकाश-पर ज्योति–दूसरों से प्रकाशित होने वाले पदार्थ अथवा पुरुष भी दूसरे से महान अथवा अणु प्रकाश प्राप्त कर स्वल्प स्थान में अथवा बड़े स्थान में विकसित होता है। अल्पत्व और महान् बल कृत है और विकाश रस कृत।

अप्रकाश पुरुष अथवा पदार्थ में भी जाकर सूर्य की किरणें जो रूप पैदा करती है वहाँ भी जो विकाश होता है वह भी मृत्यु में रस का ही अनुग्रह है, अर्थात् रस में मृत्यु की व्याप्ति है। इसमें भी रस ही रूप–विकाश का कारण है।

सूर्यादि किरणों का—उनके तेज का जहाँ अभाव हो वहाँ तम का विकाश होता है। वह भी ज्योति की तरह ही चारों दिशाओं में फैलता है। तम के विकाश का कारण भी रस ही है। तेज के अभाव में तम का चतुर्दिक विकास होता है। इसका भी कारण रस-बल का ग्रहातिग्रह सम्बन्ध ही है। रस बल को ग्रहण करता है। रस स्वतन्त्र रहता है और बल परतन्त्र। यही ग्रहातिग्रह सम्बन्ध कहलाता है और यही रस का अनुग्रहण है। उदाहरणार्थ—जल-बीचि-लहर और शब्द लहर। बल की नाभि-केन्द्र से चलते हुए इस रस में मण्डलाकार रूप विकसित होते हैं। यह रस द्वारा ही अनुग्रहण। रस ही उसका कारण है।

इसी प्रकार बीज, अंकुर, सन्धि, दल, प्रसून, फल, बीज क्रमशः विकाश से ही होते हैं। क्षम वीर्य की बूँद से क्रम से अर्ध चतुर्थ हस्त–साढे तीन हाथ का मनुष्य विकसित होता है।

सर्वत्र भूमा में अणिमा होती है, किन्तु अणिमाभाव प्रयत्न से भी दिखाई नहीं देता। हर भूमा में अणिमा तो होती ही है, किन्तु दिखती नहीं। बल तारतम्य से अणिमा ही विकसित होकर भूमा हो जाती है। रस की एक भी बूँद ऐसी नहीं जिसमें विद्यमान बल की गति विकासानुगत न हो। यह **दिक् विकास** है।

दूसरा है **देश विकास । यह यज्ञ और वेद से होता है ।** अर्थ सत्ता यज्ञ से और अर्थ भाति वेद के कारण होती है । अस्ति और भाति में विकाश के दो स्वरूप हैं । 'अस्ति' नाम से कही गई सत्ता के लिए **यज्ञ** की अपेक्षा है । ग्रहण और त्याग **यज्ञ** का स्वरूप है । उसी से सत्ता की सिद्धि है । यह सब सत्ता का स्वरूप है । अर्थ की भाति-भान वेद के कारण होता है । 'अस्ति' यज्ञ के कारण ग्रोर 'भाति' वेद के कारण है ।

मृत्यु उस अमृत खण्ड-अति खण्ड में, महान अथवा अति महान में बद्ध रहती है । अल्प में, अनल्प में भी अथवा महान विस्तृत आकाश में भी वह स्थित है, उससे पृथक् नहीं होती । कोई आवरण न होने पर भी दूरी के कारण दिखाई नहीं देती । बड़ी पहले देखने पर छोटी होते होते क्रमशः अणु होकर दिखाई नहीं देती । जो दिखाई देता है वह इसका विकास है । इस विषय को 'साम' प्रकरण में विस्तार से बताया है ।

जिस प्रकार रस-अमृत से सम्बद्ध बल-मृत्यु का देश परिच्छेद कहा गया है, उसी प्रकार **काल** परिच्छेद भी है । मृत्यु-बल अमृत में बद्ध रहता है । मृत्यु रस में, खण्ड-अतिखण्ड में अथवा महान्, अति महान् में और बहुत देर में अथवा कम देर रहकर फिर मर जाती है । यह काल परिच्छेद है । **देश परिच्छेद और काल परिच्छेद पृथक् नहीं हैं ।** Specio-Time की तरह ही हम इसे पृथक्-पृथक् न कहकर **देश-काल परिच्छेद** ही कह सकते हैं । होते हैं ये सब गति के कारण । **ये गति के ही विभिन्न रूप हैं, परन्तु प्रतीत होते हैं रस में ।**

मृत्यु-बल, गति, क्रिया न पहले थी, न फिर रहेगी । मध्य में भी मृत्यु म्रियमाण रहती है । वह 'है', 'नहीं' भी है । यह विलक्षणत्व है । यह मृत्यु का स्वभाव है । यह अमृत में रहने के कारण अमृत है । पहले नहीं थी, न फिर होगी । जब तक मध्य में है, अमृत में रहने के कारण अमृत है । पहले नहीं थी, न फिर होगी । जब तक मध्य में है, ग्रमृत में रहने के कारण दिखाई देती है । यथा—"अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्त मध्यानि भारत । ग्रव्यक्त निधनान्येव···" (गीता) । प्रतिक्षण वह उच्छित्तिमान—नष्ट होने वाली होते हुए भी उसकी सत्ता है । वह आत्मन्वित है । यह उसका विकाश माना जाता है । यह काल विकाश है ।

अमृत दिक्, देश, काल परिच्छेदशून्य है । इनसे अमृत का अभाव-व्यभिचार कभी नहीं होता । यह मात्रा विकास है । दिक्, देश, काल की व्याप्ति के कारण एक ही को तीन तरह से कहा गया है ।

□

१६. संस्था विकासाधिकरण

पूर्व प्रकरण में मात्रा विकास के निशय में कहा गया। अब **संस्था विकास** के बारे में कहते हैं।

यह ज्योति विकास रूप **'सत्य'** नाम से भी कहा जाता है। सृष्टिकाल में यह त्रिविध माना जाता है। और फिर इसके भी प्रत्येक के एक एक के तीन भेद हैं। **ये भेद माया, दशा, प्रत्यय के कारण हैं।**

नाम, रूप, कर्म माया विकाश है, प्रसाद, भाव, स्थिति, दशा विकाश और जाति, **आकृति, व्यक्ति प्रत्यय विकाश है।** इनकी केवल प्रतीति है। ये सब सत्य नहीं हैं। सब बल के ही रूप हैं, रस के नहीं। रस एक है। वह विशुद्ध आत्मा है। वह ब्रह्म है। उसमें बल उदित होता है।

रस में स्वरूप से बल के प्रवेश करने पर वह आत्मा पर-**अव्यय** पुरुष होती है। वह भूमा है। पर-अव्यय में स्वरूप से बल के प्रवेश करने पर जो दूसरी आत्मा बनती है वह अक्षर पुरुष है। और **अक्षर** में भी अन्य बल के प्रवेश के कारण जो आत्मा बनती है वह **क्षर** पुरुष है। फिर उन एकत्र किये हुए – मिले हुए बलों से संसर्ग के कारण **पशु** होता है।

ये अन्वित बल उस आत्मा में आये कहां से ? आचार्य मधु कहते हैं कि—**"आत्मा एव अविरतं बलानि स्वभावात् आहरति प्रादुर्भावयति।"** बलों का आत्मा में आहरण और प्रादुर्भाव स्वयं आत्मा ही स्वभाव से ही करती है। यहाँ सृष्टि कारण भूत लीला, इच्छा, माया, स्वभाव इत्यादि विभिन्न उद्भावनाएं विचारणीय हैं।

विशुद्ध रस में विशुद्ध रस का प्रादुर्भाव उसमें बार बार अन्वित होकर भी नित्य उदित होता है और उसमें ही विलीन होता है। इससे पर-अव्यय-शुद्ध रस की बल के कारण कोई हानि नहीं होती। उदाहरणार्थ—उपनिषद् में एक स्थान पर लिखा है कि सोम अग्नि में आहूत हो, अग्नि प्राण रूप में परिणत हो वापस सोम रूप में परिणत हो जाता है। अतः न अग्नि कम होती है न सोम। यही यज्ञ प्रक्रिया है। आ० मधु अन्यत्र कहते हैं :—

"विसंस्रतेऽनुक्षणमप्यपानतः प्रपूर्यंते प्राणनतोऽप्यनुक्षणम्।
सोमोऽग्नितामेति च नाभिमागतो, नाभेरुपैत्यन्तगतः स सोमताम्॥

शुद्ध रस में शुद्ध बल के योग से अव्यय हुआ। फिर वहाँ पर-अव्यय में बलान्तर का, जिसे अन्य जातीय बल कहा गया है, उदय होता है। उसका आत्मा ही प्रभव और प्रतिष्ठा है। वह बल समय पर वहीं विलीन हो जाता है।

इसी प्रकार अक्षर, क्षर, अथवा पशु में जो यह अपनी-अपनी आत्मा का बल उदय होता है वह रस से ही होता है। इसलिए यह विकाश माना गया है।

रसावतार में अथवा **बलावतार** में बार-बार उदय होने के कारण रूप, कर्म तथा नाम भी पृथक् पृथक्—भिन्न-भिन्न होते हैं।

तात्पर्य स्पष्ट है। शुद्ध रस में शुद्ध बल के उदय से अव्यय, फिर बल मिश्रित अव्यय रस में बलान्तर संयोग से अक्षर। इसी प्रकार अक्षर के बल मिश्रित रस में फिर बलान्तर संयोग से—अन्यबल के सम्बन्ध से क्षर तथा क्षर के रस-बल में बार-बार बलों का सम्बन्ध होते रहने से विभिन्न नाम, रूप, कर्म्मात्मक सृष्टि का उद्‌भव, प्रलय नित्य होता रहता है। रस सर्वदा शुद्ध रहता है। रस में बल धारावाहिक रूप से दूसरे बलों का आधार बनता है। इसी से यह विभिन्नता है।

ज्योतिनिबद्धबल रूप है, प्राणसंबद्धबल कर्म, और वाक्‌संबद्ध बल नाम है। ये तीनों माया बल हैं। मन ज्योति, प्राण, वाक् अव्यय की कलाएं हैं। इनसे ही रूप, कर्म, नाम होते हैं। ये ही माया कहलाते हैं।

जो अदृष्ट पूर्व हैं उनका उदय होता है। फिर वे वहीं विलीन हो जाते हैं, इसलिए वे असत् भी सत् में स्थित होने के कारण सत्य होते हैं। **अदृष्ट पूर्व** का अर्थ है—उदय होने से पहले जो नहीं दिखता, अथवा जिसके उदय होने की स्थिति से पहले की स्थिति का **ज्ञान** नहीं हो, अथवा जिसके उदय होने के कारण का पता न हो। **अनृत का अर्थ अप्रतिष्ठित** है। बल असत् है, अनृत है, साथ ही सत्ता रस में स्थित होने से सत्य है। जिस कारण से बलों के बार-बार उदय होने पर भी वह आत्मरस क्षीण नहीं होता, ये बल कैसे—कहाँ से होते हैं? यह कोई नहीं जानता। इसलिए इनको माया विकास कहते हैं।

निश्चय ही इसे परम निधि कहा गया है। वह शक्ति, उस निधि से रस-बल लेकर—उनको उपादान बना, पर—अव्यय, अक्षर तथा क्षर आत्मा होती है। और यहीं शक्ति से विकार होता है। जैसा कि गीता में लिखा है— **"द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरमेव च, क्षरस्सर्वाणि भूतानि अव्ययोक्षर मुच्यते।"**

वहाँ भी बलसृष्टि में जो अपूर्व रूप है वह कहाँ से उदित होता है और कहाँ चला जाता है यह अज्ञात है—कोई नहीं जानता इसलिए इसको माया विकाश कहा गया है।

रस में बल के योग से जो अपूर्व सृष्टि होती है उसका कारण अज्ञात और बल में बल से जो अपूर्व सृष्ट होता है उसका भी कारण अज्ञात, अतः दोनों ही को माया सृष्ट, माया विकाश-मोया जनित-अथवा माया ही कहा गया है—

दशा विकाश—भाव और प्रसाद :

अमृत में मृत्यु का संसर्ग ही भावोदय है। मृत्यु का अमृत से छूट जाना—पृथक् हो जाना—मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। यही प्रसाद का उदय है। इसके अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है। प्रसाद, भाव और स्थिति संस्था विकास के ही भाग दिशा विकाश के रूप हैं। **संक्षेप में—**

संस्था विकाश के तीन रूप—१. माया २. दशा ३. प्रत्यय।

माया के तीन रूप—१. नाम २. रूप ३. कर्म

दशा विकाश के तीन रूप—१. भाव २. प्रशाद ३. स्थिति

प्रत्यय विकाश के तीन रूप—१. जाति २. आकृति ३. व्यक्ति

इस प्रकार यह सब जगत विकाश ही है।

मृत्यु उत्पत्ति और विनाशधर्मा है। निर्धर्मक अमृत में मृत्यु अकस्मात् उत्पन्न होती है। इसका मूल अज्ञात है और यह उद्भूत हो होकर विनष्ट होती है। जहाँ से बल का उपक्रम होता है वहीं इसकी समाप्ति है। साम की तरह, स्वर के विस्तार की भाँति बल ग्रन्थियों से यह रस–सत्व चेतन के आधार से विस्तार को प्राप्त होता है। फिर उसी रस के सहारे वहीं विलीन हो जाता है। यह प्रवृत्ति, निवृत्ति चक्र अनवरत चलता रहता है।

कर्म अकर्म में उदय होकर सृष्टि करता है। फिर उसी क्षण नष्ट नहीं होता, अमृत में मिला धारावाहिक रूप हो जाता है। वहाँ बल क्रम से–क्रिया करता हुग्रा—चक्रमण करता हुआ दूसरे बल के संसर्ग से घनी भाव को प्राप्त हो जाते हैं। फिर उनका विसर्ग होने से क्षीण होते हुए नष्ट हो जाते हैं। यहाँ कर्म का अर्थ बल ग्रौर ग्रकर्म का अर्थ रस है।

आगे आवरण क्रम से भुक्ति के लिए होता है और उससे उच्छेद मुक्ति के लिए। दोनों ही क्रम रस में होते हैं। **सृष्टि और मोक्ष दोनों ही विकाश हैं।** ग्रन्थि परम्परा के क्रम से जगत् और ग्रन्थि छूटने पर मोक्ष होती है। पहले सृष्टि और फिर मोक्ष, फिर सृष्टि-कर्म और मोक्ष–यह चक्र अनादि, अनन्त है यदि अन्तर में—बीच में कोई विक्षेप न हो। सर्ग–विमोक्ष–चक्र नैसर्गिक है। केन्द्र में—अणु में और चक्र में फिर चक्र, यह चक्र चलता ही रहता है। उलटे मार्ग–प्रतिमार्ग की इच्छा करने वाले के तो क्रम का व्यतिक्रम भी होता है। मानव की मोक्ष कामना इस क्रम में व्यतिक्रम कर सकती है। जब तक नित्य नया उगने वाला "नित्यनवरोहण: अश्वस्थ:" नाम का कर्म पादप दूर न हो—समाप्त न हो, तब तक मनुष्य कभी मुक्त नहीं होता। उसके निर्मूल छेदन से ही अमृतोदय होता है। कर्म अश्वस्थ का वर्णन गीता में बड़ा सुन्दर किया गया है। इसका उन्मूलन ही पुरुषार्थ है।

जैसे ग्रोंकार से उद्गीथ, साम के विवर्त होते हैं, वैसे ही यह विवर्त क्रम से होता है। उसके उत्क्रमण से फिर दूसरा विवर्त होता है। यह बात स्वयं ही विचारणीय है। प्रथम विवर्त मे, बल का सम्बन्ध होने के कारण, फिर विवर्त होते हैं। इस प्रकार स्थूल से स्थूलतर जगत का उद्भव होता है। पराव्यय तो केवल अनुभवगम्य है।

अक्षर, अमृत में मृत्यु का सम्बन्ध होने पर, तीन प्रकार का—त्रिविध होता है। उससे भोक्ता ग्रौर अनेक प्रकार के क्षर भोग्य पैदा होते हैं। अमृत रस में मृत्यु बल के सम्बद्ध होने पर ग्रक्षर की तीन कलाऐं—मन, प्राण, वाक् जो हृद्य ग्रात्मन्वी आत्मकलाऐं हैं, उत्पन्न होती हैं। ओंकार के प्रसंग में अ–उ–म तीन ही अक्षर हैं। इनको ही अक्षर कला के प्रतिनिधि–प्रतीक समझना चाहिए।

जब अमृत में मृत्यु का विशेष बन्ध होता है, जब वह हृदय-केन्द्र ग्रन्थि युक्त होता है, निसर्ग–स्वभाव–प्रकृति से चक्रमण करता है—क्रिया करता है, तब अक्षर से ही फिर क्षर, प्रज्ञा, प्राण, भूत होते हैं। जब कर्म प्रकर्ष होता तब प्रज्ञा प्राण रूप से उदित होती है। ग्रंथि में फिर ग्रंथि परम्परा से प्राण भी भूतत्व प्राप्त कर लेता है। कहा है:—**"यदा तु कर्म क्रमते प्रकर्षात् प्रज्ञा तदा प्राणतयोदिता स्यात्। ग्रन्थौ पुनर्ग्रन्थिपरम्परायां प्राणोऽपि भूतत्वमुपैति पश्चात्।"** जो अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अव्यक्त था वह फिर और स्थूल होकर व्यक्त हो जाता है। क्रम से सम्बन्ध विलक्षणता के कारण और तारतम्य के कारण सृष्टि में–क्रम में–विसर्ग में भेद होते हैं।

अक्षर से ही क्षर, प्रज्ञा, प्राण, भूत होते हैं। यह सब मृत्यु लक्षण कर्म रूप बल की रस में जो क्रिया होती है उसी से होता है। सूक्ष्म व्यक्ति से स्थूल, स्थूल तर, स्थूलतम व्यक्ति होती है। इसी से सृष्टि में विभेद–भिन्नता, नानात्व होता है, क्षर के ही भोक्ता, भोग्य दो विभाग होते हैं। क्षर में ग्रन्थि के दृढ़ होने पर उसके ही तीन रूप हो जाते हैं जो प्रज्ञा, प्राण, भूत कहे जाते हैं। ये सब अक्षर के ही भेद हैं।

प्रज्ञा प्रारम्भ में **सत्ता** हुई। वह उस समय सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर थी। अन्त में तो वह स्थूलतर होती हुई **पृथ्वी** रूप होती है—"पृथ्वीत्वं एति।"

इस प्रकार **बल के प्रकर्ष के कारण ही एक का दूसरे में रूपान्तर होता है।** इसका उदाहरण पृथ्वी है। **पृथ्वी की सूक्ष्माति सूक्ष्म अवस्था प्रज्ञा थी।** उसने ही क्रम से स्थूल होते होते पृथ्वी का रूप ले लिया। पृथ्वी प्रज्ञा की ही स्थूलावस्था है।

पृथ्वी-भूः जल-अम्भ से, अम्भ तेज से, तेज वात् से, वात् वाक् से, वाक् तो बल से और बल प्रज्ञा से आवृत्त हैं। इस प्रकार यह एक ही सप्ताङ्ग प्रतीत होता है।

कार्य कारण से आवृत्त होता है। कार्य मात्र कारण के आश्रित है। कारण कर्म को उत्पन्न करता हुआ भी अपने स्वरूप से रहता है। वह कारण स्वरूप कार्य को चारों ओर से ढक लेता है उसका आवरण कर लेता है। पृथ्वी पानी से, पानी तेज से, तेज वायु से, वायु वाक् से, शब्द आकाश से, आकाश बल से–प्राण से, प्राण प्रज्ञा से आवृत्त होते हैं। **सप्त आवरणों** का वर्णन पुराणादि में मिलता है। यह कर्म की विजय है, कर्म का प्राधान्य है, कर्म का संचरण है।

इस प्रकार पृथ्वी तक सृष्टि क्रम **संचर है। इसी को गति कहा है।** "ब्रह्म पृथ्वित्व को प्राप्त हो सोता है" —यह महान कर्म का जय है। **गति का संचर भाव ही विसर्ग-सृष्टि है।** इसी से पृथ्वी बनती है। यह कर्म का ही महान कार्य है। यह **कर्म जय** है।

अतः यह भी सम्भावना है कि पृथ्वी भी प्रति संचरण की दशा में प्रज्ञा रूप हो जाय। अन्त में क्रम से ग्रन्थि विमोक के कारण पुनः ब्रह्मजय हो।

यह **संचर–प्रतिसंचर** की, इन **रूप** और **गति** की निरुक्ति है। यह संचर नाम का भावोदय है। यह कर्म्मों का विकाश है। इस क्रम, उपक्रम से यह महान विकाश हुआ और फिर होगा।

मोक्षार्थी कर्म विशेष की ग्रन्थि छूटने पर प्रतिसंचर करता है। वह भूतात्मा के भौतिक कर्मों के क्षय होने पर क्रम से नैष्कर्म्य को प्राप्त होकर प्रसन्न होता है—"प्रसीदति।" यह आत्मा का प्रसाद है। प्रसाद रूप विकाश है। यही **ब्रह्म जय** है।

पृथ्वी, अम्बु, तेज, वायु, प्राण रूपा वाक्, मन सब वही रस है। मन कर्म नाश से रस हो जाता है। यह प्रसाद विकाश माना जाता है। यह भाव प्रसाद भी रस विकाश ही है।

जैसे ॐकार में 'अहं' 'अहः' हो जाता है और क्रमशः वही 'ओं' होता है, इसी प्रकार शरीरी आत्मा ही पर-अव्यय के तेज में अमृत, अभय हो जाता है। यही परम विकास है। **अहं, अह, ओं—ये एक ही तीन, आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक संस्थाओं के प्रतीक हैं।**

विशेष जानकारी के लिए आ० मधु के 'सिद्धान्त-वाद' के भाग २ श्लोक ६७ पर म. म. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी की टिप्पणी तथा "संस्कृति और सभ्यता" : पंडितप्रवर श्री मोतीलालजी पेरा ११७, ११८, ११९ दृष्टव्य हैं।

ऊपर भाव प्रसाद के सम्बन्ध में जगत चक्र की चर्चा की गई। अब जगत चक्र के उदाहरण सरलता से समझने के लिए दिये जाते हैं। जैसे, पृथ्वी में **अप्** रस रूप से स्थित है। धूम बनकर जल पृथ्वी से उठा, अन्तरिक्ष में गया। यह पानी **'श्रद्धा'** नाम से कहा गया है। इसका उल्लेख छान्दोग्य उपनि० में है। **दिवि में गया यह अप् सोमरूप हो जाता है** और **पर्जन्य** बन बरसता है। वृष्टि जल **अन्न** होता है, उससे **वीर्य** होता है। वह **स्त्री के गर्भ में** जाता है जिससे **बालक** युवा, स्थविर होता है। **आकाश में रहे चाहे पृथ्वी पर,** अन्ततः **वह रसात्मक ही है।** इसी प्रकार रस का ही बीज, वृक्ष आदि रूप से चक्र होता है। निष्कर्ष यह है कि **इस जगत में जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब विकाश ही** है। यदि विकाश न हो तो रस भूमा होते हुए भी उससे जगत न हो। भावोदय हो अथवा अमृतोदय, उपरोक्त अन्तः स्थितियाँ ही अवस्थाएँ कही गई हैं और इसीलिए पहले पहले **दशा विकाश तीन प्रकार का—भाव, प्रसाद, स्थिति** बताया है। भावोदय में पृथ्वी, अश्म, फेन, हिरण्य भेद से नाना प्रकार होते हैं। ये सब उनकी अवस्थाएँ, स्थितियाँ हैं। इन सबका विशद् विवेचन शतपथ ब्राह्मण में किया गया है।

फिर यह विकाश भी दो प्रकार का है, एक कर्म प्रवृत्ति का और दूसरा निवृत्ति का। प्रवृत्ति विकास में रस क्रम से अधिक दूर होता है। प्रवृत्ति होने पर वह भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। प्रारम्भ में कर्म विकाश होता है। उससे फिर ब्रह्म विकास प्राप्त होता है। प्रवृत्ति मार्ग चतुष्पाद होता है और निवृत्ति मार्ग भी चतुष्पाद। इसका वर्णन छा० उप० में प्रपाठ २, खण्ड २–८ साम उपासना में हिंकारादि शब्दों से कहा गया है। यथा; हिंकार, प्रस्ताव आदि।

स्थिति के विकाश से अवस्था विकाश होता है, भावोदय में बल का विकाश होता है तथा रस के प्रसाद के उदय होने पर अमृत का विकाश होता है। इस प्रकार संस्था विकाश के तीनों भागों, भाव विकाश, प्रसाद विकाश और स्थिति विकाश का विकाश होता है।



२०. दीप्तिविकाशाधिकरण

संस्था विकास तीन प्रकार का कहा गया है और परम दीप्ति विकास भी त्रिविधि है—१. ज्योति, २. प्रज्ञा ज्योति, और ३. निखिल जगत की अवभासक रस ज्योति ।

भौतिक ज्योति सात हैं—१. विद्युत, २. सूर्य, चन्द्र, ३. पानी की अग्नि, ४. अग्नि, ५. दिव्यौषधी, ६. हिरण्य, तथा ७. आकाश में नष्ट होने वाली ज्योतियां जैसे, उल्काएं । प्रज्ञा तो इनके द्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण को भी प्रकाशित करती हैं ।

सूर्य ज्योति, अग्नि ज्योति, चन्द्र ज्योति, वाक् ज्योति और भूतात्मा जिसके अन्न हैं वह सद् असद् का विकास करने वाला विज्ञान पृथक् है वह 'ज्योतिषां ज्योतिः'—सब प्रकाशकों का भी प्रकाशक है ।

ब्रहदारण्यकोपनिषद् के छठे अध्याय के तीसरे ब्राह्मण में, जिसे 'ज्योति ब्राह्मण' कहते हैं, इसका विशद वर्णन किया गया है । इस पर—अव्यय ज्योति को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्र, तारे, न विद्युत् । अग्नि का क्या ? उसी से प्रकाशित सब प्रकाशित होते हैं । यही भर्ग है, यही भाः है ।

वाक्, प्राण, चक्षु, श्रवण, त्वचा आदि जो भी चित्त के योग से विशेषताएं होती हैं सब प्रज्ञा में मृत्यु-बल-क्रिया का ही खेल है । और इनमें जितना ऐक्यरूप है वह विकासवान् रस ही है । इसका वर्णन 'पंचदशी' में भी किया गया है । सब का तात्पर्य यह है कि ज्ञान का प्रकाश एक है । विषय भिन्न होने से इन्द्रियजन्य ज्ञान भिन्न-भिन्न होजाता है ।

मृत्यु युक्त अमृत फिर वैशिष्ठय प्राप्त कर पृथक्-पृथक् रूप धारण कर उस उस प्रकाश-विषय को फिर प्रकाशित करता हुआ अन्य बल के साथ सम्बन्ध करता है । एक बल के योग से एक प्रकाश, एक बृत्यात्मक ज्ञान होता है । फिर अन्य बल के योग से अन्य ज्ञान । यह वृत्ति भेद ही है न कि मुख्य प्रकाश का भेद । ये सब चित्त की वृत्तियाँ हैं जिनमें अमृत का—रस का मृत्यु बल से ग्रहातिग्रह रूप बन्ध है । इस पाप्मा—बल बिना विकास नहीं होता, न अमृत बिना ही विकास होता है । पूर्व में भी बताया गया है कि इस बन्धसम्बन्ध को वैदिक भाषा में ग्रहातिग्रह सम्बन्ध कहा गया है । यदि ज्योति का विकास न हो तो वेद में अग्नि की चिति भी न हो । इस विकास से ही अग्नि में चेतना होती है, इसलिए यह चित् ही चेतना है । यदि ज्योति का विकास न हो तो चेतना भी न हो । जब आयतन भूत वेदों में अग्नि की प्राण रूप से चिति होती है—चयन होता है, ऊर्ध्व-अपर भाव से निवेश होता है तब ही चैतन्य प्रतीत होता है । यदि विकास न हो तो एक का चयन कैसे हो ? एक ही 'बहु'—अनेक कैसे हो ? विकास से ही अग्निप्राण की विविध रूपता होती है । यहीं चिति है । इसी से चैतन्य होता है । भागवत् में एक स्थान पर कहा है—"येन चेतयते विश्वं, विश्वं चेतयते न यम् ।" **चेतना, चित्, चैतन्य, विकास—ये सब समानार्थक** ही हैं । वेदों में अग्नि सम्बन्ध ही इसका कारण है । यह वैज्ञानिक रीति है । जो संस्था क्रम है वही विकास रूप है । ये तीनों शब्द तुल्य—समानार्थक हैं । **विकास के तीन रूप हैं—संस्था, मात्रा, दीप्ति** और इन तीनों

का विकास रूप से नियत साहश्चर्य है। जितना भी विधृति, प्रतिष्ठा. ज्योति है उतना ही वेद त्रय का उपक्रम है। यज्ञ, भर्ग अथवा उसका महर्यश—कोई भी इस ज्योति से पृथक् अन्य वस्तु नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक्, प्राण, मन का भी ऋक्, यजु, साम रूप वेदत्व ही कहा गया है। इनके विवर्त—प्रतिष्ठा, विधृति, ज्योति में भी वेद तत्व है। इनके बिना वेदों का विस्तार—प्रथन नहीं हो सकता। इनसे ही वेदों का विस्तार होता है। सूर्यादि ज्योतिर्मय पिंडो में ज्योति पिंड **भर्ग** कहलाता है। ज्योति की किरणों का प्रसार **महः** है। बन्द भवन में भी, किरणों के साक्षात् सम्बन्ध के अभाव में भी, जिस प्रकाश का अनुभव होता है वह **यश** है। यहाँ भर्ग ऋग्वेद महः यजुर्वेद और यश सामवेद है। जितनी ज्योति की व्याप्ति है उतने ही में विधृति और प्रतिष्ठा भी फैलती है। वेद भी उतने ही प्रदेश में व्याप्त होते हैं। ज्योति के परे कुछ नहीं हैं। इसी ज्योति-पिण्ड न्याय से रूप, ज्योति, भर्ग, महः, यशः भी समझना चाहिए। □

२१. विधृति अधिकरण

जिससे "यह है"—यह बुद्धि होती है वह **विधारणा** है। वही विधृति और धृति है। धृति द्वारा आत्म की रक्षा किये जाने पर स्वरूप च्युति नहीं होती और विधारणा के कारण दूसरा दूसरे का भाग होता है। यहाँ भक्ति का अर्थ भाग है।

विधृति प्राण की विवर्त रूपा है। आधार-आधेय रूपा, अथवा वस्तु स्वरूप को स्पष्ट करने वाली बुद्धि जिससे होती है वही धृति है। धृति, विधृति, विधारणा पर्याय शब्द हैं। यह आधार-आधेयभावप्रयोजिका है। यह अस्तित्वबुद्धि प्रयोजिका भी है।

जो जिसका भक्त है वह उसका बन्धु कहा जाता है। भक्ति के वश ही उपासना की जाती है। यदि किसी के भर्ग में, महः में, अथवा यश में स्थिति हो तो अन्यत्र नहीं जाता, उससे पृथक् नहीं होता।

किसी वस्तु का परिधिपरिच्छिन्नबिम्ब ही भर्ग है। बिम्ब से बाहर वायु मण्डल में फैली हुई किरणें प्राण विशेष ही महः है। रूपक मण्डल में जो दृष्यता है वह यश है। रूपक मण्डल का अर्थ है—किरणों के आवर्तन-प्रतिफलन के कारण प्रतिबिम्बभूत सारा मण्डल।

भर्ग, मह, यश के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। किसी यान में रक्खा हुआ अथवा उसमें स्थित, चाहे अचल हो चाहे स्थित, यान की गति के साथ ही चलता है। यह यान का भर्ग है। मक्खी उड़ती है, परन्तु सवारी के साथ ही चलती है। वह भी यान के भर्ग में ही स्थिति कहलायगी। पक्षी पृथ्वी के महः में होने के कारण पृथ्वी के साथ ही घूमते हैं। यह पृथ्वी भी ध्रुव के यश में स्थित है। वह ध्रुव से विधृत होकर ही स्थित है। पृथ्वी चलती तो है तो भी ध्रुव के मण्डल के बाहर नहीं जाती है। यह यश का उदाहरण है।

धृति के तीन विभाग हैं—धृति, विधृति और **विधारणा**। यह लोक परलोक में व्याप्त है। जहाँ भी स्वरुप से च्युति नही होती वह अस्खलन ही धृति कहलाती है। प्रत्येक पिण्ड के केन्द्र में स्थित सारे धर्म धृति से यथायोग्य विधृत रहते हैं। धृति सब को पूर्ण रूप से—चारों ओर से धारण किये रहती है। धृति का स्थान नाभिकेन्द्र है। प्रत्येक पिण्ड के केन्द्र में यह धृति नाम की शक्ति है जो उस पिण्ड के विभिन्न धर्मों को—अवयवों को—गुणों को धारण करती है। यही नाभि स्थित प्राण विवर्त रूपा धृति है।

विधृति और आकर्षण में अन्तर है। आकर्षण दूसरा करता है। वह अन्य का बल-कर्म होता है, किन्तु विधृति वह है जिसमें एक दूसरे में भक्तिभूत—भाग-हिस्सा होकर उपासीन होता है। कुछ लोग विधृति को ही आकर्षण कहते है। आचार्य मधु कहते हैं कि इन दोनों में अन्तर है। आकर्षण में एक दूसरे को बल से खेंचता है। विधृति में अपने बल से ही एक दूसरे में भाग रूप होकर स्थिर रहता है।

फिर सजातीय स्वधन में नित्य बद्धता भी विधारणा है। दूसरे के बल में स्थित होकर तो कुछ ही वस्तु विधृत होती है। यह अनित्यकाला विधृति है। नित्या विधारणा तो पृथ्वी की है जो पृथ्वी के पदार्थों में दिखाई देती है। पृथ्वी की विधारणा ही विधृत पदार्थों में गुरुत्व रूप से परिणत हो जाती है। पृथ्वी के पदार्थ पृथ्वी से पृथक् नहीं हो पाते इसका कारण गुरुत्वाकर्षण बताया जाता है। परन्तु आ० मधु कहते हैं कि यह आकर्षण नहीं, यह तो पृथ्वी की विधृति है। पृथ्वी के पदार्थ और पृथ्वी में सजातीयता है। वे पदार्थ पृथ्वी के अपने धन हैं। यह नित्य है, स्वाभाविक है। इसमें बल प्रयोग नहीं है, जब कि आकर्षण में एक बल का दूसरे पर बल प्रयोग होता है और वह अनित्य है।

पिण्ड में—निकाय में पृथ्वी की विधृति के कारण गुरुता होती है। पिण्ड के धर्म केन्द्र में विधृत होते हैं, इसलिए केन्द्र स्थित वह वस्तुभार प्रतीत होता है। यह गर्भगत अन्तः स्थित आत्मा है। प्राण की केन्द्र में ही स्थिति होती है।

सूर्यकृत विधृति के कारण पृथ्वी की विधृति में बाधा होती है जिससे पदार्थों में लघुता प्रतीत होती है। जहाँ सूर्य की विधृति अधिक काम करती है वहाँ पृथ्वी की विधृति में बाधा पड़ती है। तात्पर्य यह है कि सूर्यविधृति अधिक होने से पदार्थों में लघुता प्रतीत होती है।

जहाँ एक का दूसरे को धारण करना इष्ट हो वहाँ पृथ्वी की विधृति स्वतन्त्र नहीं होती। क्षर पदार्थों में तेज की विधृति वरिष्ठ होती है। उससे संश्लेष—विश्लेष गति होती है। जिन पदार्थों में—भावों में तेज की विधृति अधिक होती है उनमें पृथ्वीं का मिश्रण—संश्लेष कम होता है और विश्लेषण के कारण उनकी आकाश में गति सम्भव होती है। **यह संश्लेषण और विश्लेषण पृथ्वी तथा तेज की विधारणा के तारतम्य से होता है**

एक अल्प के अशनाया बल का दूसरे बलवान के अशनाया बल में विलय को **च्युति** कहते हैं। स्वभाव से सब ही अच्युत हैं। दूसरे के बल के प्रयोग से अपने स्वरूप से च्युति होती है। पहले कहा जा चुका है कि अपने में दूसरे को प्रवेश करने के लिए जो बल प्रयोग किया जाता है वह अशनाया कहलाती है।

इस प्रकार विधारणा, अथवा विधृति, अथवा धृति ये तीनों स्पष्ट ही दिखती हैं—हर स्थान पर प्रतीत होती हैं। अथवा ये त्रिविध नहीं है। ये तो समान भाव से ही सब स्थान पर हैं। स्वरूप से भी धृतित्व सामान्य के कारण सब का ऐक्य ही है। एक ही के त्रित्व को विविध दृष्टियों से बताया है।

जिस प्रकार **वाक् का स्वरूप प्रतिष्ठापकता है, मन का स्वरूप प्रकाशत्व** है उसी प्रकार **प्राण का स्वरूप विधारकत्व** है। यह विधृति प्रतिष्ठा नहीं है। वाक्, प्राण, मन का समन्वय प्रतिष्ठा-विधारकत्व तथा प्रकाशत्व में होता है। यह विधारणा प्राण का स्वरूप है, प्रतिष्ठा वाक् का। प्रतिष्ठा निर्व्यावृत्ति होती है। उसमें कोई क्रिया नहीं होती। जो व्यावृत्ति युक्त हो अर्थात् जिसमें क्रिया हो उसको विधृति कहते हैं। विधृति से त्यक्त-च्युत होने पर विनाश को प्राप्त होता है। यह प्रतिष्ठा

और विधृति में अन्तर है। प्रतिष्ठा में कोई व्यापार नहीं होता, कोई क्रिया नहीं होती। बिधृति सव्यापार होती है, विधृति में वर्तन-व्यापार होता है।

जैसे विशेष का सामान्य में समावेश होता है, सारे विशेष सामान्य ही में रहते हैं, जैसे कार्य कारण में स्थित होता है, जैसे वायु की गगन में स्थिति होती है, उसी प्रकार सब प्रतिष्ठा में स्थित हैं। सामान्य विशेष की, कारण कार्य की, गगन वायु की प्रतिष्ठा है, विधृति नहीं। यह **प्रतिष्ठा और विधृति का स्पष्ट अन्तर है।**

पुनः दूसरे से यदि जाने वाले की निवृत्ति हो जाय तो उस स्थिति को विधृति समझो। प्रकृति से जाने वाले की प्रवृत्ति का लोप-क्षय नहीं होता—यह विधृति का परिणाम है। प्रथम 'प्रकृति' शब्द का अर्थ गतागत के आश्रय भूत पदार्थ है। दूसरा 'प्रकृति' शब्द प्रतिष्ठाप्राण बोधक है। तात्पर्य यह है कि प्रतिष्ठा आश्रय भूत है, उसके बिना किसी की स्थिति सम्भव नहीं। अतः ब्रह्म को विश्व की प्रतिष्ठा रूप कहा है। ब्रह्म से बाहर विश्व की न कहीं गति है, न अगति; परन्तु जहाँ एक आश्रय छूटने पर दूसरे में और उसके छूटने पर तीसरे में गति हो, रूप का चाहे परिवर्तन हो जाय परन्तु पदार्थ स्वरूप से नष्ट न हो, वह प्रकृति है—बल है–विधृति है।

प्रत्येक पदार्थ की विकास सीमा नियत होती है जहाँ तक उसके अवयव, गुण, धर्म की गति है वही उसकी सीमा है, उसके भीतर ही उसके अवयव रहते हैं। गति का प्रचार केन्द्र से होता है और वह बाहर विकास सीमा तक जाती है आगे नहीं। इसी को धृति कहते हैं। यह देश बन्ध धृति के कारण ही है। अन्न को गृहण करने की सीमा अन्न तक ही है। वाक् रूप अन्न को अन्न के अतिरिक्त दूसरा कोई धारण नहीं करता। अन्न अन्न में ही प्रतिष्ठित रहता है। उदाहरणार्थ—इस पृथ्वी में जो कुछ भी कहीं है सब रथान्तर तक इसके अन्न की तरह पृथ्वी से धारण किया हुआ–विधृत है। यह रथान्तर से बाहर नहीं जासकता। पृथ्वी का साम-विस्तार-व्याप्ति सूर्य रथ पर्यन्त है। इससे पृथ्वी के पदार्थ पृथ्वी पर ही रहते हैं। उससे बाहर नहीं जाते। इसका कारण विधृति ही है। उचक कर फिर पृथ्वी पर गिरना यह भी विधृति का ही फल है। और जहाँ तक वृहत् साम है वहाँ तक यह सब अन्न है जो सूर्य से विधृत है। यह बृहत् साम से कभी बाहर नहीं होता। इस प्रकार सर्वत्र ही विधृति नजर आती है। सूर्य मण्डल के साम अथवा विस्तार को बृहत् साम कहते हैं। यही सूर्य रथ है। यहाँ तक सूर्य की विधृति है। जिस प्रकार भूतमात्र भूमि का अन्न है, देवता सूर्य के अन्न हैं। ये इन दोनों द्वारा पृथक् विधृत हैं। हम मनुष्य दोनों से बद्ध हैं। **हमारा शरीर भूतमय है, इन्द्रियाँ देवमय।**

हम प्राणियों के अंग सूत्रात्मरूप वायु से धृत हैं, जैसे पट और मिट्टी में जल। इसीलिए हमारे सब अंग परस्पर सम्बद्ध हैं, दृढ हैं। यह भी विधारणा के कारण ही है।

अशनाया बल रस में जब स्वरूप से संसृष्ट होता है तब विधृति होती है। रस में बल विधृति के कारण संसृष्ट हो तो एकर्षि कहलाता है। वह एकर्षिप्राण है। वह अक्षर है। वह विधर्ता और विधारण है। उसके प्रभाव से एक दूसरे से श्लिष्ट तीनों अक्षर एकवत् होजाते हैं। अर्थात् जब

अक्षर पुरुष के रस में स्वरूप संसर्ग से अन्य बल मिलता है तब क्षर कला रूप प्राण का उदय होता है। यह तीसरा प्राण है। एक अव्यय पुरुष की कला रूप प्राण है, दूसरा है प्रथम के विकास रूप अक्षर प्राण और क्षर कलाओं में प्रथम यह तीसरा प्राण। विधारकत्व तो तीनों में ही अनुगत है। यही प्राण की प्रवृत्ति का निमित्त है। इस भौतिक शरीर का विधर्ता यह क्षर प्राण ही है। इसीलिए ईश्वर को धर्ता-विधर्ता (धाता-विधाता) कहते हैं।

और अक्षर के रस में जो स्वरूप संसृष्ट अन्य बल उदित होता है वह तृतीय, क्षरप्राण है जो विधर्ता अथवा विधारक है। उसके प्रभाव से एक दूसरे से श्लिष्ट तीनों क्षर एकवत् होते हैं। वह ही शरीर में प्रवेश कर देह को धारण करता है। वह विचित्रकर्मा है। कहा है—"नमः आश्चर्यकर्मणे"।

बल में रस की, अक्षर में अव्यय की, और क्षर में अक्षर की विधारणा पृथक् है। प्रज्ञा में अक्षर और उसमें प्रज्ञागत देवता विधृत हैं। प्रज्ञा सर्वत्र विद्यमान रहती है। यह तीसरा क्षर कला रूप प्राण ही संश्लिष्ट होकर सब क्षर कलाओं का एकत्व प्रकट करता है। यही बाण रूप शरीर का विधारक है। यहां प्राण और अन्य इन्द्रियों के विवाद को उपनिषद् में मूल ही पढ़ना चाहिये जहां प्राण ने कहा है—

"अहमेवैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामि"।

विधारणा व्यापक है। इन्द्रियों की विधारणा अर्थगत है, आत्मा की शक्तिगत। जो सुप्रतिष्ठित है वह प्रतिबिम्ब धारण करता है और प्राण की धारणा प्रत्येक् शरीर में है। सप्तर्षियों में इन्द्र की धारणा है। भूतमात्र में उस एकर्षि की धारणा है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जहाँ धारणा न हो।

निष्कर्ष यह है कि धारणा के द्वारा ही सब आधारित है। इस सम्बन्ध में शत पथ ब्रा० के छठे काण्ड के आरम्भ में विस्तार से बताया गया है। **क्षर कला रूप प्राण सात प्रकार से विभक्त** हैं। उनमें **मध्य का इन्द्र है। ये सप्त ऋषिप्राण** पक्ष, पुच्छ, आदि रूप से व्यवस्थित हैं। ये मध्यगत इन्द्र प्राण से धारणा किये जाते हैं। और वे ऋषिप्राण अप् आदि भूतों का उत्पादन कर उनको धारण करते हैं। इस प्रकार सब एक दूसरे से धृतम्–धारण किये हुए हैं। विधारण बिना कुछ हो यह नहीं दिखाई देता। आचार्य श्री मधु कहते हैं :—

इन्द्रस्य सप्तर्षिषु चास्तिधारणा तद् भूतमात्रासुतथार्षिधारणा।
न तत्क्वचित् वस्तु न यत्र धारणा सर्वं तयाऽधारि ममेतिधारणा॥

यही सब की आधार है। इसी के लिए कहा है 'आधार भूता महा।" (दुर्गाशप्त०)

विधृति की आनन्दरूपता—जब आत्मा दुखी होती है अथवा दबाई जाती है तब वह आर्त और अल्प होती है। यह दुखी-दबाई हुई आत्मा का दुःख भाव है। विज्ञजन धृति से फिर पूर्ण आत्मभाव तथा आनन्द भोग करता है। वीर, करुण, अद्भुत, अथवा वीभत्स, रौद्र अथवा भयानक

रसों में चित्त द्रवित होकर भी धृति से अपने स्व-आत्म में स्थित होने पर आनन्द रस की प्राप्ति होती है।

आनन्द दो प्रकार का है। प्रथम विधृति से स्व में स्थिति होने पर मिलने वाला और दूसरा वह जो भूमा रस के अनुग्रह से आत्मा की वृद्धि होने पर होता है। निश्चय ही बिना विधृति के यह वृद्धि नहीं हो सकती। इसलिए अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही दृष्टियों से यह विधृति आनन्द का कारण कही जाती है।

इस सम्बन्ध में गीता के "धृत्या ययाधारयते"; "धृतिः सा सात्विकी" आदि वाक्य विचारणीय है। महामाया के लिए भी कहा है—"ययाधारयते जगत्"।

ऊपर विधारणा—धृति, **विधृति आनन्द रूप** कही है। उपनिषद् में एक स्थान पर कहा है—**"यो वै भूमा तत्सुखम् यदल्पं तद् दुःखम्"।** यहाँ अल्पता को, अथवा कहें क्षीणता को, अथवा दूसरे के द्वारा आक्रान्त होने को, दुःख रूप माना है। यह भी प्रसिद्ध ही है कि—"सर्वं परवशं दु.खं, सर्वमात्मवशं सुखम्"। विधृति में सुख दुःख का अभाव है। इसलिए **विधृति की आनन्दरूपता** सिद्ध होती है।

वीर, करूणादि रसों में चित्त द्रवित होने पर भी आत्मा की धृति होती है। उसकी शक्ति नष्ट नहीं होती। वह द्रवित नहीं होती। इससे धृति की आनन्दरूपता स्पष्ट ही सिद्ध है। अलंकार शास्त्र—काव्यप्रकाश आदि में स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है कि रसों में आनन्द का उद्रेक होता है।

आनन्द दो प्रकार का है—एक शान्त्यानन्द, दूसरा समृध्यानन्द। प्रथम में क्षोभ का अभाव है। वहां तो विधृति का स्वरूप स्पष्ट है, क्यों कि क्षोभ का अभाव विधृति का स्वरूप है। समृध्यानन्द में व्यावहारिक आत्मा की वित्त, प्रजा आदि कलाओं की वृद्धि होती है। वृद्धि भी जो विधृत है उसी की सम्भव है। इस प्रकार दोनों प्रकार का आनन्द ही विधृतिरूपता का अतिक्रमण नहीं करता। विधृति हो तो आनन्द का अनुभव होता है। यह सिद्ध हुआ अन्वय की रीति से। विधृति न हो तो आनन्द भी उपलब्ध नहीं होता, यह हुआ व्यतिरेक। अव्यय और व्यतिरेक दोनों हीं से विधृति की आनन्द हेतुता सिद्ध होती है। यह भी लोक व्यवहार की दृष्टि से ही कहा गया है। वास्तव में तो आनन्द का स्वरूप होने के कारण स्वरूप से अच्युति रूप विधृति आनन्दरूप ही है। आनन्द नित्य है। उसमें कारणता सम्भव नहीं है। □

२२. प्रतिष्ठाधिकरण

विधृति का प्रतिष्ठा स्वरूप—

अशनाया बल विधृति के कारण समाप्त हो जाता है—रोक लिया जाता है तब ज्योति चारों तरफ फैलती है। उसको प्रतिष्ठा से विशेष रस प्राप्त होता है। उसी से ही आत्मा में प्रतिष्ठित इन विभिन्न बलों में एकता आती है। वे बल जब एक होजाते हैं तब वे परतन्त्र हो जाते हैं। यही **प्रतिष्ठा** है। यदि प्रतिष्ठा न हो तो ज्योति चारों ओर कहाँ से फैले ? अथवा विधृति से बलों का रूप न बने तो बलों का सान्तानिक रूप कहाँ से हो ? प्रतिष्ठित बलों की विधृति प्रतिष्ठित होकर ही ठीक काम करती है। इसीलिए ब्रह्म प्रतिष्ठा है। **सारे प्रतिष्ठित कर्म ही जगत रूप से भासित होते हैं।**

मात्रा, संस्था आदि विकास रूप ज्योति की स्थिति प्रतिष्ठा से ही है। **मन, प्राण, वाक् को ही ज्योति, विधृति, प्रतिष्ठा कहा गया है।** रूप वाक् की प्रतिष्ठा है। वह स्व सत्ता रूप है। जैसे मन, प्राण, वाक् परस्पर अविना भाव युक्त हैं, उसी प्रकार उनके विवर्त ज्योति, विधृति, प्रतिष्ठा हैं। जब विधृति के कारण अशनाया बल स्थित होता है तब उससे विछिन्न मन के चारों ओर स्थित ज्योति रूप चारों तरफ फैलता है। वह अपने से बाहर के रस को आत्मसात करने का प्रयत्न करता है। उसके लिए वह फैलता है। यह दो रसों का योग ही प्रतिष्ठा है। **मन रस का पहला विवर्त** है। एक रस रूप मन ज्योति रूप से विधृति में प्रविष्ठ हुआ। इस प्रकार रस के दो प्रकार हुए। जब क्षण भर भी बल रस में प्रतिष्ठित हुआ कि विभिन्न होने पर भी एकत्र प्रतिष्ठित होने से ही उनका रूप बन जाता है। यही उनकी स्वरूप सत्ता है। यही प्रतिष्ठा है।

बल स्वरूप से स्वतन्त्र थे। जब वे रस के विवर्त रूप ज्योति में प्रतिष्ठित हुए तो ज्योति के परतन्त्र होगये। इस प्रकार सब का एकात्म सम्पादन करने वाली और उनको परतन्त्र बनाने वाली प्रतिष्ठा है।

ज्योति, प्रतिष्ठा, विधृति तीनों ही परस्पर एक दूसरे का स्वरूप सम्पादन करने वाले हैं। प्रतिष्ठा के बिना अस्थिर बलों में रस विवर्त भूत ज्योति कैसे प्रवर्तन कर सकती है ? विकास कैसे होसकता है ? बलों में ही ज्योति का विकास होता है। अस्थिर–क्षण में नष्ट होने वाले में विकास कैसे हो ? अस्थिर की सन्तति–Continuity भी सिद्ध नहीं होती। सान्तानिक रूप भी विधृति द्वारा कैसे सम्पादन हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि यह सब प्रतिष्ठा के कारण ही होता है।

प्रश्न हो सकता है कि अस्थिर तरंगादि की भी परम्परा देखी जाती है, इसी प्रकार बलों की भी परम्परा रूप सन्तति होगी। परन्तु तरंग भी जब जल में सत्ता रूप से प्रतिष्ठत होती हैं तब ही उनमें परम्परा सम्भव होती है। इसी प्रकार ज्ञान परम्परा से भी वस्तु विकास नहीं हो सकता। इसीलिए **नैयायिक** क्षणिकों की भी **उत्पत्ति क्षण, विनाश क्षण,** तथा **स्थितिक्षण** की कल्पना करते हैं, परन्तु **बौद्ध उत्पत्ति विनाश का एक ही क्षण मानते हैं।** नैयायिकों का स्थिति क्षण प्रतिष्ठा रूप ही है। विधृति भी स्थिति क्षण में ही सम्भव होती है।

उत्पाद, विनाश क्षण का यदि एक्य हो तो विधृति कैसे ? सब ही विनाशी हो तो विधृति कैसे ? इसलिए प्रतिष्ठित बल से ही समीची, संगमन, सन्तान रूपा प्रतिष्ठा भी सम्भव होती है। ब्रह्मरूपिणी प्रतिष्ठा से ही सब जगत प्रतिष्ठित है। प्रतिष्ठा में आप्त कर्म ही जगत है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या जिससे "है, है"—यह बुद्धि अर्थात् 'अस्ति'-बुद्धि होती है वही मृत्यु की प्रतिष्ठा है ? उत्तर है–यह तो सत् की प्रतिष्ठा है। बल, मृत्यु, पाप्मा का प्रतिष्ठा क्रम तो इससे भिन्न है। प्रतिष्ठित होने पर ही सत् की सत्ता कही जाती है।

वह स्थिति ही नहीं जहाँ गति न हो। जहाँ स्थिति ही न हो वहाँ किसी प्रकार की गति भी नहीं। यह **स्थिति ही अमृत है। परिवर्तनात्मिका गति मृत्यु है।** जो आवृति-आवरण है वह मिति है। उसी से वस्तु की आकृति बनती है। अन्यथा वह स्थिति ही है। यह परिच्छेद स्वरूप गति, अमृतानुगतागति उच्छेद गति से पृथक् है।

विधृति–प्रतिष्ठा दोनों ही स्थिति रूप हैं। ये रस प्रधान अव्यय पुरुष की कला रूप, प्राण, वाक् स्वरूप हैं, परन्तु रस कभी भी बल के बिना नहीं रहता। कहा है— **"न परं रसः सदैव बलेन बिना कृतो भवेत्"।**

ब्रह्म माया का नित्य सम्बन्ध है। कहीं भी **स्थिति गति** रहित नहीं देखी जाती जिनको हम स्थिर मानते हैं वहाँ भी अवयव परिवर्तनात्मिका गति है ही। अन्यथा नवीनता, प्राचीनता का प्रयोग ही न हो। गति भी स्थिति बिना हो ही नहीं सकती। स्थिति ही अमृत है, रस है। गति तो मृत्यु है, बल है। दोनों के योग से ही परिवर्तन होता है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा-पहिचान भी सर्वत्र ही प्रतीत होती है। इससे यह **सब रस-बलात्मक अर्थात् उभयात्मिक** है—यह सिद्ध होता है।

स्थिति के शश्वत् परिवर्तन क्रम में जो पहले देखा वह फिर नहीं दिखाई देता। वह रूप नष्ट हो गया ऐसा प्रतीत होता है। यह कर्म-मृत्यु अव्यय-पर रस के कारण सत् कहा जाता है। यह मृत्यु असत् होते हुए भी जहाँ से सत्ता ग्रहण कर क्षण भर के लिए सत् की तरह प्रतीत होती है, वही सत्ताघन है। उसीको अमृत रस कहते हैं। वह नष्ट होते हुए भी नष्ट नहीं होता। यह सब सामान्य सत्ता ही दिखाई देती है। वह एक ही सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्तन करती है। सब उसके ही विवर्त हैं। उसके ही अन्वय–योग–सम्बन्ध से, अथवा उसके होने पर ही भाव और उसके व्यतिरेक से अर्थात् न होने पर अभाव होता है। सत्कर्म में कर्म ही रूप में बद्ध होकर जो अन्य रूप से बार-बार नया-नया होता है उसमें पहले से ही स्थित सत्ता काम करती है। और सत्ता ही परिवर्तन, क्रमण, क्रिया करती है।

श्री चतुर्वेदी जी लिखते हैं कि सत्कार्यवाद के अनुसार उच्छेद तो किसी का नहीं होता, फिर यह 'उच्छेद-गति' क्या ? परिवर्तन क्रम में जो रूप पहले था वह तो फिर कभी भी नहीं आता है। उसका तो उच्छेद ही होता है। सत्कार्यवाद में अवस्थान्तर प्राप्ति को ही परिणति कहते हैं। उसके अनुसार जो अवस्था गई वह तो फिर गई ही। सत्कार्यवाद के अनुसार अवस्थाओं का अवस्था रूप से ही परिवर्तन पदार्थों का भेद है। जिन अवस्थाओं का उच्छेद होता है वे कर्म रूप हैं। रसाश्रय

से बल रूप अवस्थाओं का अस्तित्व–उनका होना अथवा कहो, सत्त्व प्रतीत होता है। उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। इसलिए ही वेदान्त में उनको असत्-मिथ्या कहा गया है। उनका अस्तित्व दूसरे के कारण है, न कि स्वत:। यही मिथ्यात्व-मिथ्यापन है। 'मिथु' धातु का अर्थ संगमन है। **जो दूसरे की संगति से प्रतीत हो, न कि स्वतन्त्र हो उसको मिथ्या कहते हैं।** यही वेदान्तोक्त मिथ्या का अर्थ है।

न्यायादि दर्शनों में जो सत्ता सामान्य कही गई है वह रस का–ब्रह्म ही का रूप है। इससे पृथक् वह कुछ भी नहीं है। न्याय सूत्र में कहा है––"व्यक्ताकृति जातयस्तु पदार्थ:"। वहाँ गति सामान्य ब्रह्म रूप है, आकृति कर्म रूप। इनका संयुक्त रूप-एकत्व संयोग, समवाय ही व्यक्ति है। सत्ता के अन्वय–एकत्व संयोग–अभिन्न सम्बन्ध से ही भाव होता है। जहाँ सत्ता का पता नहीं चलता उसे अभाव कहते हैं। यद्यपि सत्ता ब्रह्म रूपा-विभ्वी-भारूपा है, उसका व्यतिरेक-अभाव कभी सम्भव नहीं, तो भी जिसके सम्बन्ध से उसका अनुसंधान–भाव नहीं होता उसका ही अभाव कहा जाता है। न्याय के अतिरिक्त अन्य दर्शन अभाव को भी भावान्तर मानते हैं, यथा–"भावान्तरमभाव:"

सत्ता पृथ्वी के केन्द्र में स्थित है। चारों ओर दिशाओं में उसका विकाश है। उसका आलम्बन लेकर ही सारे पार्थिव भाव बद्ध हैं। जैसे सारे भौतिक पदार्थ–आप्य अप् में, तैजस तेज में, वायव्य गण वायु में निबद्ध हैं तथा वायु के पदार्थ वायु में और वायु वियत्-आकाश में, उसी प्रकार प्राण, बुद्धियाँ, तथा बल प्रज्ञा गत-प्रज्ञा से निबद्ध हैं। पृथ्वी में सत्ता जल से, जल में सत्ता तेज से, तेज में सत्ता वायु की और वायु में सत्ता वियत्–आकाश की तथा आकाश की सत्ता प्राण से और प्राण में धिय:– प्रज्ञा अनुवर्तन करती है।

इस प्रकार सारे भाव सब तरफ से सूत्ररूपी रस से सत्ता मय हैं। वे भी पूरी तरह से प्रज्ञा में निबद्ध हैं और प्रज्ञा एकाक्षरमूला है।

सत्ता ही भाव है। जो 'है' वह भाव है। यदि अभाव है तो सत्ता नहीं है। जो एक सत्ता है वह एक ही है। यह सब, 'इदं सर्वं'–'इदं समस्तं,' अद्वैत ही प्रतीत होता है।

आचार्य मधु भगवान् बादरायण व्यास के सर्वात्मैक्य, अद्वैत के प्रतिपादक–मानने वाले हैं। □

२३. (अ) भूमाधिकरण

आदिब्रह्म का रूप अत्यन्त सूक्ष्म-गूढ है। निर्लक्षण होने से उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। उसको यथावत्–पूर्ण रूप से नहीं जाना जासकता। तथापि जितना जाना जासका है उतना बताया गया है।

भूमा-ब्रह्म व्यापक है। मन, वाक् से अतीत है। जितना जाना जा सकता है उतना ही कहा जाता है। कहा है–"पतन्तिखे आत्मसमं पतत्रिणः"।

जो दिखता है––'आभाति' वह ज्योति है और जो 'है' वह प्रतिष्ठा है। रस भूमा है और विधृति भाति। इन दोनों को अमृत कहा गया हैं। **ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द है। चित् ज्योति है, सत्ता प्रतिष्ठा, और विधृति आनन्द।**

ज्योति, प्रतिष्ठा, विधृति—इन तीन सर्वदा अवियुक्त–अपृथक् आत्माओं से अन्य पर आत्मा पुरुषोत्तम है। उसको **सच्चिदानन्द** कहा गया है। च्यूंकि यह प्रतिष्ठित है इसलिए सत् है, च्यूंकि यह ज्योतिर्मय है इसलिए चित् कहा गया है। च्यूंकि यह अच्युत है–विधृत है इसलिए सुख है। इसलिए इसको 'सच्चिदानन्द' कह कर स्तवन करते हैं।

भूमा अर्थात् बहुत्व–परिपूर्ण रूप। काम उसके लिए है, उसमें काम नहीं है। भूमा स्वमहिमा में ही प्रतिष्ठित है। भूमा की महिमा। प्रतिष्ठा तो भूमा ही है। वह नीचे, ऊपर, सामने, पीछे, उत्तर-दक्षिण चारों ओर है। वह सर्व, एक, अमृत, अद्वितीय है। उसे दिक्काल, देह से नहीं नापा जा सकता। भूमा ही को रस कहा गया है। भूमा ही सब से परे है। सब उसमें प्रतिष्ठित है, किन्तु वह अन्यत्र प्रतिष्ठित नहीं है।

जो सदा बृहत् है, जो विस्तार करता है उसे ब्रह्म कहते हैं। यही भूमा है। यह सर्वगत होकर भी अलिप्त है। यही उसका परम रूप जानो।

इस जगत में बिना नाम के कुछ नहीं है। वाक् नाम से बड़ी है। वाक् से मन और मन से भी बड़ा है संकल्पक चित्त। तथा इससे भी बड़े हैं ज्ञान और विज्ञान। बलों में अन्न, अप्, तेज, अन्तरिक्ष, काम-आशा और प्राण बड़े हैं। इस प्रकार बाद का पहले-पहले से क्रमशः बडा है। जिस प्रकार नाभी में आरे लगे रहते हैं उसी तरह इस प्राण में अखिल विश्व समर्पित है। वह कर्म, कर्ता, करण, तथा क्रिया है और वही माता, पिता, बान्धव है। प्राण ही क्षर है और प्राण ही अक्षर। अतः प्राण से परे यहाँ कुछ भी नहीं है। प्राण का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। परन्तु 'परोरजा'–परमात्मा तो इससे पृथक् ही माना गया है। ब्रह्म-सूत्र में भी प्राण शब्द को ब्रह्म बोधक ही कहा गया है।

भूमा की सुखरूपता—

प्राण सत्य है। उससे अन्य-बड़ा कोई सत्य नहीं है। जो सत्य है उसको जानने की इच्छा करना चाहिए। मति की व्युत्पत्ति है–**'मत्वा विजानाति इतिमतिः'**। पहले उसका सम्पादन करना चाहिए। जानकर ही सत्य कहा जाता है, इसलिए पहले विज्ञान की ही शिक्षा दी जानी चाहिए। श्रद्धा उदय होने पर उस विषय में गति होती है, इसलिए पहले श्रद्धा की जाना चाहिए। जो निष्ठावान् है उसी को श्रद्धा होती है, इसलिए पहले निष्ठा करनी चाहिए। यत्न योग से कुछ करके ही निष्ठा में स्थित होता है, इसलिए पहले कृतिमान् होना चाहिए। जिसको करके सुख मिले सब उस ही को करते हैं—इस प्रकार सुख की परीक्षा करना चाहिए। सुख तो भूमा ही है। सुख अल्प भाव में नहीं है। अतः प्रथम भूमा पर ही विचार करना चाहिए।

भूमा का स्वरूप—जहाँ 'अन्य', 'अन्य' दिखाई दे वह अल्प है। वह मर्त्य है। जहाँ अन्य–दूसरा सुना न जाय, न जहाँ दूसरा दिखाई दे और न अन्य कोई जाना ही जाय वही भूमा है।

छान्दोग्य उपनिषद् में जिज्ञासा का क्रम तथा भूमा का स्वरूप बताया गया है। यह उसी का अनुवाद है। जहाँ भेद की प्रतीति हो वहाँ अल्पत्व स्वयं सिद्ध है। अपने से अन्य कुछ है इसका तात्पर्य यह है कि अपना व्यापकत्व नहीं है। **व्यापकत्वका अभाव ही अल्पत्व है।** जहाँ हम कुछ जानते हैं वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय पृथक् होते हैं। इसी से अल्पत्व सिद्ध है। इसी प्रकार सुनना है। किन्तु जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय–श्रोत, श्रोतव्य–दृष्टा, दृष्य का भेद न हो वह भूमा है। भेद बल कृत है, रस तो भूमा, अद्वितीय है। इस प्रकार **ब्रह्माद्वैत** सिद्ध होता है।

भूमा का आनन्दत्व–आत्मत्व—

जो जितना अल्प अल्प है वह उतना ही आर्त, आर्त है। जो भूमा है वही सुख है। पर-परमात्मा तो भूमा है। भूमा अमृत में अतिमात्रा में है। इससे यह आत्मा आनन्दमय है।

कम्प ही भय है, स्थिति से विच्युति है। स्थिति का अभाव की कम्प है। कर्म मृत्यु कहा गया है। जो ध्रुव प्रशान्त है वह अमृत है। वह कम्प-कर्म-मृत्यु से भिन्न है। इस प्रकार आत्मा सदा आनन्दमय है। सीमित को दूसरे प्रबल से भय होता है। यह आत्मा तो अमात्र-असीम, अमृत, अद्वितीय है। न वह कम्प योग्य है, न उससे कोई वरिष्ठ है। इस प्रकार, आत्मा अभय, आनन्दमय है। कहा है–'द्वितीयाद्वैभयं भवति'–बृहदा० १/४/२।

आत्मा में रस अन्न को आधार बनाता है वही तृप्ति है। यही उस रस की गति देखी जाती है। रस का परिणाम तृप्ति हैं। तृप्ति से विज्ञान और आनन्द है। आत्मा आनन्दमय है आनन्द तृप्तिज है। विज्ञ लोग रस को सुख कहते हैं। सब रस प्राप्त करके ही सुखी होते हैं। कार्य रस के अनुभाव के कारण रस अमृत है। इसलिए यह आत्मा रसानन्दमय है। विज्ञ-जन रस को सुख कहते हैं। सब रस प्राप्त करके ही आनन्दी, सुखी होते हैं। अतः यह आत्मा रसानन्दमय है।

आनन्द की कारणता—उत्पादकता—

हर्ष न हो तो गर्भ स्थिति नहीं होती। विवाद हो तो गर्भ च्युति होती है। आनन्द से ही यह सब प्रजा पैदा होती है। जिसके जीवन में हर्ष न हो, वह दुःख से भर कर अधिक नहीं जीता। वह प्रतिक्षण हर्ष की मात्रा से ही जीवित रहता है। वह सब ओर से अन्न से तृप्ति प्राप्त करता है। औषधियाँ, जल, अग्नि, वायु, वाक्. बल, ज्ञान—इन अन्नों का भोग कर जो सब ओर से तुष्टि प्राप्त करता है वह शाश्वत हर्ष को प्राप्त होता है। "शश्वत् शान्तिमधिगच्छति"। यह हर्ष ही आत्मा है। अन्न से तृप्ति, तृप्ति से हर्ष तथा हर्ष से जीवन—यह क्रम है। यदि इन सात प्रकार के भोग्य अन्नों में आनन्द रस न हो तो आत्मा में आनन्द प्रगट न हो, न उसमें महः उत्पन्न हो और न तृप्ति प्राप्त हो। यदि यह आनन्द—आकाश न हो तो क्षणभर भी कौन जीवित रहे? जो सुनता है, देखता है, जानता है, अथवा धारण किया जाता है वह सुख ही है।

जगत की आनन्दरूपता—आहार से अथवा विहार से जहाँ भी लोग रमते हैं वह निवृत्ति, तृप्ति ही है। लोग इस जगत में सर्वत्र रमण करते हैं। इसलिए यह आनन्द ही भूमा है। जिस स्थान पर ठहरता है वहीं अपने भोगों के साथ फिर रम जाता है। उससे बाहर किये जाने पर फिर चित्त में दुःख का भाव उत्पन्न होता है। वहाँ उस के स्वतः विज्ञान से जो विशिष्ठ ममता होती है वह जब दूर होती है—आत्मा से वह पृथक् होती है तो दुःख होता है। जो भोग पहले सुखप्रद थे वे ही अब दुःखरूप लगते हैं। यही भोगस्थित और आत्मस्थित आनन्द का अन्तर है। इस कारण से यह आत्मा आनन्दमय है और भोग भी आनन्दमय है। पहले एक दूसरे में अन्तर्गर्भित था। दोनों एक थे। जब दोनों में अन्तर, भेद हुआ वही दुःख है। भोग्य सुख के कारण यह आत्मा सुखरूप है। किसी प्रकार विशेष दोष के कारण अन्तर में भेद होने से एक भय उत्पन्न होता है जिससे वह दुःखी होता है और सुखी नहीं होता। यह सुख केवल आत्मा का नहीं है, क्योंकि आत्मा अविशेष है और उसमें असुख का कोई प्रसंग नहीं होता। इसलिए भोग वर्ग भी और यह आत्मा भी भूमा—आनन्द है। तात्पर्य यह कि आनन्दरूप रस-ब्रह्म सर्व व्यापक है। **ब्रह्म-रस के साथ एकीभाव आनन्द है—अभय है,** और **भेद होने पर भय है—दुःख है।**

(ब) अणिमाधिकरण

अणिमा का निरूपण—जगत में सब सावयव है। परमाणु भी निरवयव नहीं है। भूमा और अणिमा परस्पर परिवर्तनशील हैं। भूमा वह है जो अखण्ड है। उसमें खण्ड नहीं होता, न वह अवयव के योग से उत्पन्न होता। वह नित्य पूर्ण है। रस रूप से अखण्ड है। रस रूप सच्चिदानन्द का कभी भी खण्ड सम्भव नहीं है। यही भूमा है।

कुछ लोग यह मानते हैं कि जगत में जो भी दिखाई देता है वह सावयव है, स्थानावरोधी, प्रदेश वाले हैं। सब के खण्ड होते हैं। अन्ततः अणुकी भी अखण्डता नहीं है। नैयायिक अणु को अखण्ड मानते हैं परन्तु अणु ही नहीं उससे भी छोटे परमाणुओं की भी अखण्डता नहीं है। उदाहरणार्थ—जल में डाले हुए लवण के कण अथवा कपूर। अतः परमाणु खण्ड का कोई अन्त नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि जगत में जो भी दिखाई देता है वह स खण्ड है । जो खण्ड है वह भी स रस है । उसके खण्ड की कल्पना नहीं की जा सकती । उसका कोई प्रदेश अथवा अवयव नहीं होता । यह वेदान्तियों का मत है । वे मानते हैं कि यह जो अखंड है—जो सखंड दिखाई देता है वह खण्ड नहीं है—उसके खण्ड की कल्पना नहीं हो सकती तथा न उसका कोई स्थान, कोई अवयव-भाग माना जाता है । वेदान्त में सब की अखंडता–निरवयवता प्रतिपादित की गई है ।

परन्तु **वैदिक विचार धारा** इनसे भिन्न है । उसके अनुसार अखंडता अथवा सखंडता है भी और नहीं भी है । बल के कारण सखंड होते हुए भी रस के कारण अखंड है । यह **द्विविधा बुद्धि** सवर्त्र ही समीचीन है । इस **वैदिक दृष्टि में**–ऋषियों की उक्तियों में **दोनों ही विचारों का समन्वय** है । बल मित-सीमित है, इसलिए यह सब पृथक्-पृथक् खंडवत् किया हुआ दिखता है । वही बल के अलग होने पर अखंड, एक की तरह है, जैसे—एक सिन्धु बहुत तरंगों वाला होता है । सृष्टि के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण ही सब से अधिक मान्य प्रतीत होता है । सर्व समन्वयकारी पुराण शास्त्र में सर्वदा यही **भेदसहिष्णुअभेद दृष्टि** की छटा नजर आती है ।

भूताणु परस्पर गुथे हुए से दिखाई देते हैं, फिर भी परमाणु पृथक् खण्डित होते हैं और ये परमाणु ग्रन्थि छूटने पर क्रम से तीव्र गति को प्राप्त कर पुद्‌गलपन को छोड़ देते हैं ।

पहले बताया है कि परमाणु सखण्ड हैं । बल द्वारा अणु के अवयव परस्पर गुंथ जाते हैं । इन अवयवों में एकता प्रतीत होती है । एक बल का नाश होने पर अवयव खंडित हो जाते हैं । यह अवयव विभाग से अवयव विभाग की प्रक्रिया परमाणु पर्यन्त चलती है । परमाणु भी तो बल ग्रन्थि के द्वारा ही बनते हैं । ग्रन्थि छूटने पर द्रव्यता का भी नाश होजाता है, जैसे पृथ्वी के परमाणुओं की ग्रन्थि-संघटन टूटने पर उनको द्रवता प्राप्त होजाती है । जल रूप का भी संघटन टूटने पर तेज होता है । इसी प्रकार वायु के अणुओं का संघटन टूटने पर–ग्रन्थि विमोक होने पर परमाणु पुद्‌गल रूप को, घनता को, दृष्यता को, स्थानावरोधक रूपता को–कायत्व को छोड़ देते हैं । तब नाम, रूप का त्याग होता है और वे भूमा में ही लय होजाते हैं । यही बात भगवान् बादरायण ने कही है— 'परमाणोरपि विनाशोपपादाने" (ब्र० सू० २/१५) । इस पर भाष्यकार आ० शंकर का भाष्य दृष्टव्य है .

अणुओं का ग्रन्थन और विमोक, इस प्रक्रिया से ही पंचतत्त्वों का निर्माण, एक तत्त्व का दूसरे में परिवर्तन तथा फिर भूमा में ही सब की परिणति होना–यह स्पष्ट वैज्ञानिक प्रक्रिया है । वर्तमान में वैज्ञानिक अणुओं का ग्रन्थि विमोक करने में सफल होगये हैं ।

अणु आकाश की भांति रस में विलीन होकर फिर पैदा होते हैं–यह अणिमा है । यह रस ही वह अणिमा है जिसे भूमा कहा जाता है । वह बाहर भीतर विभु है । लवण, कपूर की भाँति अणु–परमाणु उनका गठन टूटने पर आकाश की तरह सर्वव्यापी रस में विलीन होते हैं । इससे परमाणुओं की परिणति अन्त में भूमा ही है यह सिद्ध होता है । तत्वों के विलयन से भूमा निष्पन्न होती है । उसके आगे अणुत्व नहीं हैं । निरविच्छिन्न–अबाधित रस ही भूमा कहलाता है ।

अणिमा का स्वरूप और उसका ही भूमारूप में परिणत होना अनेक दृष्टान्तों से छान्दोग्य उपनिषद् के छठे प्रपाठक में महर्षि उद्दालक ने श्वेतकेतु को अनेक प्रकार से समझाया है ।

छा० उप० ६/१३ का महावाक्य—"तत्त्वमसि" तथा "ऐतदात्ममिदं सर्वम्" है।'तत् त्वमसि' जहाँ आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, वहीं "ऐतदात्ममिदं सर्वम्—समष्टि, सर्वम् को स्पष्ट करता है। दोनों के सम्मिलित विचार पर ही दर्शन में पूर्णत्व आता है। भूमा और अणिमा दोनों में ही स्वभाव विशेष का अभाव है। अतः दोनों का ही ऐक्य है। भूमा और अणिमा दोनों अन्योन्यजन्य हैं, अर्थात् अणिमा से भूमा और भूमा से अणिमा होती हैं। जैसे, भूताणु भिन्न और खंडित होते हैं, वे टूटते हैं, अनेक होते हैं। खण्डित मिल कर मिति-सीमा के टूट जाने से—व्यतिक्रम से एकात्मता को प्राप्त होजाते हैं। वह बृहद् होता है। इसी प्रकार छोटी से छोटी मिति का क्रमशः विलोप होने पर अन्त में चैतन्य, सर्व मिति के उच्छेद के कारण अमात्र-अमाप-असीम रहता है। वह सर्व रस भूमा है अर्थात् भूमा के मिति नहीं है। जल समुद्र से सूर्य रश्मियों से उठ कर आकाश में जाता है और और भूमि पर आकर पूर्व, पश्चिम्, उत्तर, दक्षिण चारों तरफ बहता हुआ समुद्र में जाकर लुप्त होजाता है। वे सब सरितायें समुद्र से उत्पन्न होकर फिर भी उसी में मिल जाती है। वे स्वरूप से रूप, नाम खोकर—"च्युतरूपसंज्ञः" समुद्र रूप होकर पृथक् नहीं दिखाई देती। ये लौकिक दृष्टान्त हैं। ये उपनिषद् में भी दिये हुये हैं।

इसी प्रकार सब प्रकार की प्रजायें जहाँ-जहाँ उत्पन्न होती हैं वहीं लय होजाती हैं। जहाँ भी वे नाम, रूप के कारण पृथक् नही होती वहाँ वे पृथक् स्वरूप से नहीं दिखाई देतीं। "अच्युतरूपसंज्ञः" रूप ही ब्रह्म स्वरूप है। नाम, रूप सब पर्यायें है। वह पर्याय रहित है। वह सब का प्रभाव, प्रतिष्ठा, परायण है, सर्वगत और सूक्ष्म है। इसमें ये सम्पूर्ण प्रजाएें अपीत हैं, लय हैं, पूर्ण हैं। इसके अन्त में फिर उसका अन्त नहीं मिलता। यह 'जन्माद्यस्य यतः" की व्याख्या-अनुवाद है। जैसे अनेक फूलों से लिया हुआ रस मधु होजाने पर अपना पार्थक्य ज्ञान—विवेक खो देता हैं, अर्थात् पृथक्-पृथक् फूलों के रस का ज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार यह सत्य है, आत्मा है। यह परमात्मा अव्यय है। यह अणिमा हैं। यह सब निश्चित् रूप से आत्म ही है। यह ऐतदात्ममिदं सर्वम् का अनुवाद है।

कुसुम जल, लवण जल इसके स्थूल दृष्टान्त हैं। जो सूक्ष्म है, अविज्ञेय है वह अणिमा है और सर्वव्यापी में लीन होने पर वही भूमा कहलाती है। इस प्रकार अणिमा और भूमा दोनों का एक्य है। इस सम्बन्ध में अश्वस्थ का दृष्टान्त जो उपनिषद् और गीता दोनों में ही मिलता है बहुत सुन्दर तथा स्पष्ट है। जैसे पेड़ का दृष्टान्त—पेड़ का रस बहता है—फैलता है। वह जड़ में, बीच में, आगे सब जगह समानरूप से रहता है। वह रस से जीवित रहता हैं, उससे ही खिलता है हरा रहता है। इसी प्रकार यह अनन्त विश्व भी रस से ही बढ़ता है, जीवित रहता है, खिलता है। शाखा, प्रशाखा जिसको भी जीव-रस छोड़ दे मर जाती है। इसी प्रकार आत्मभूत रस से रहित—च्युत होने पर कर्म-बल नष्ट हो जाता है। अर्थात् **रस ही जीवन है।** बड़ के पेड़ के फल के भीतर के कण-धाना अणुतर होते हैं। उन धानाओं में जो अदृष्ट रूप होता है उसे वहाँ यत्न से भी नहीं देखा जा सकता। यही अणिमा है। वह वृक्ष उसकी ही पैदायश जानो।

भूमा अणिमा होती है और भूमा पृथक् बल है। जिसमें यह बल है वह एक ही हैं। वही अणिमा है, वही भूमा। वही रस है और वही आनन्द।

आचार्य मधु कहते हैं—

भूमाणिमा स्यादणिमा च भूमा पृथक् बलोऽयं बलमस्ति यस्मिन्।
स एक एवास्त्यणिमा स भूमा रसः स आनन्द इति प्रतीयात्॥

२४. रसभेदाधिकरण

आनन्द दो प्रकार का है—एक पाप्मा के प्रसंग से होने वाला और एक परम शान्ति। यही मुख्य आनन्द है। मृत्यु में रस के प्रवेश से क्षणिक प्रसाद उदित होता हैं।

एक है **शान्त्यानन्द** और दूसरा **समृध्यानन्द**। बल का जब रस में लय होता है तब बल प्रतीत ही नहीं होता, केवल रस ही रहता है। यह परमानन्द ही शान्तानन्द कहलाता है। इसका अनुभव समाधि-सुषुप्ति में होता है। क्षोभरूप बल का अभाव ही शान्ति है। यह स्वरूप भूत आनन्द ही मुख्य है। मृत्यु में-बल में रस के प्रवेश से जो क्षणिक आनन्द-प्रसाद-विकाश का उदय होता है वह समृध्यानन्द है। यह वृत्यात्मक है, अनुभव गम्य है और इन्द्रियों से इसका ज्ञान होता है।

आनन्द ही अमृत है इसलिए यह मृत्यु रस से सम्बन्ध कर जितना आत्मा को प्राप्त होता है–अर्थात् जितना आत्मन्वी होता है उतना ही आनन्द-आत्मा उन वैभवों में होता है।

समृद्धयानन्द का स्वरूप—रस एक विभु है। उसमें देश, कालकृत परिच्छेद नहीं है। बल अत्यल्प प्रदेशवाला क्षणिक है। बल रसाश्रय से ही सत्तावान् होता है। वहीं बलों के एकत्र होने से अधिक प्रदेश को घेरता है। वह प्रवाह से नित्य होजाता है। यह जल तरंग के दृष्टान्त से स्पष्ट होता है। इसलिए अप्रतिष्ठित क्षणिक बल का प्रतिष्ठापक रस ही है। रस अमृत है, किन्तु बल क्षणभगुंर होने से मृत्यु है। क्योंकि आनन्द रस ही अमृत है, इसलिए यह मृत्यु-बल उसके साथ सम्बन्ध कर बलों के एकत्रचयन होने के कारण जितने प्रदेश को अभिव्याप्त करता है अर्थात् रस के बल विभूति सम्बन्ध से प्रवेश करने से उतना ही आनन्द का अनुभव होता है। यद्यपि मुख्यरूप से बल का ही रस में प्रवेश होता है, रस तो पहले से ही सर्व प्रदेशावगाही है। इसलिए उसमें किसी नये प्रदेश में जाना, अवगाह रूप प्रवेश बन नहीं सकता। किन्तु बल के कारण रस में जो नया सीमित होता है उसके लिए ही प्रवेश शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार रस, बल का परस्पर सम्बन्ध होने पर रस के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है और एकत्र हुए बलों को उसका विभव कहा गया है। रस का प्रवेश विभूति सम्बन्ध से होता है इसलिए 'विभवति' शब्द का प्रयोग हुआ है।

सबसे पहले शरीर, फिर स्त्री, पुत्र, जमीन, सोना, पशु, घर, हाथी, घोड़े इत्यादि सब आत्मा की महिमायें हैं। ये सब बल के ही चिति रूप हैं। आत्मा इनको अपना स्वरूप ही मान कर ग्रहण करती है। वह जानता है कि जितना मेरा यह वित्त है उतना ही मैं हूं, उतनी ही उसको तृप्ति होती है, इसलिए विज्ञान आनन्द है ऐसा सिद्ध है।

यहाँ विज्ञान और आनन्द का ऐक्य कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक प्रजा, वित्त आदि को ममत्व रूप से गृहण नहीं किया जाता तब तक न विभूति सम्बन्ध होता है और न तृप्ति। किन्तु जब उसको ममत्व .से, अपने सम्बन्धी रूप से जानता है तब आत्मा का विभूति

सम्बन्ध होने के कारण तृप्ति-आनन्द होता है। जितना वित्त, प्रजादि में ममत्व होता है, उतनी अधिक ही तृप्ति होती है। यही बल में रस के प्रवेश के कारण समृद्धयानन्द है। यह ज्ञान रूप सम्बन्ध सत्त्व है। जितना आत्मा का प्रजा, वित्त पर्यन्त विस्तार का ज्ञान होता है उतनी ही उसकी तृप्ति होती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि **विज्ञान और आनन्द एक रूप है।**

'विज्ञान आनन्द' कहें अथवा 'विज्ञानमानन्दः' कहें इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिए कि **पर-अव्यय अक्षर और क्षर दोनों में निगूढ़ है।**

श्रुति में 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३/९/२९) आदि में 'आनन्दम्' नपुसंक लिंग में प्रयोग किया गया है। न्याय में यह माना है कि 'आनन्द' शब्द नित्य पुंलिंग है। नपुंसक प्रयोग आर्ष है। इसलिए विज्ञान रूप ब्रह्म में आनन्दधर्मिता सिद्ध होती है, न कि आनन्द रूपता। विशेष विवेचन के लिए 'मुक्तावलि' आदि न्याय सिद्धान्त ग्रन्थ देखना चाहिए। आचार्य श्री मधु ने आनन्द को रस रूप अथवा रस ही माना है।

श्रुति में जहाँ "विज्ञानं आनन्दम्" पाया जाता है वहीं "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्" (तै० उप० ३/६) में पुलिंग प्रयोग भी मिलता है। यहाँ आनन्द शब्द ब्रह्म के विशेषण को तरह प्रयुक्त हुआ है। इससे ब्रह्म की आनन्दरूपता भी सिद्ध होती ही है। अतः दोनों को मिला कर पढ़ने पर भी अर्थ यही होगा कि अव्यव पुरुष आनन्द रूप है। **आनन्द अव्यय की एक कला है। अक्षर और क्षर आनन्द धर्मी हैं।** अव्यय क्षर और अक्षर में नित्य अनुप्रविष्ठ है, इसलिए आनन्द भी धर्मरूप से उनमें प्रविष्ठ रहता है।

जहाँ श्रुति में "विज्ञानं आनन्दम्"— ऐसा उल्लेख हैं वहाँ उसका अर्थ अवर ब्रह्म से है। जहाँ "विज्ञानं आनन्दः" है वहाँ अर्थ परम ब्रह्म है। ज्योति तो ध्रुव-निश्चय विज्ञान है। यह भूमा रस से बिल्कुल भी भिन्न नही है। च्यूंकि यह आत्मा इन देह, प्रजा, पशु, भूमि से वैभव युक्त होती है—'विभवति', जिससे वह आत्मा महान वैभव प्राप्त करता है, वे उसकी अपनी महिमा और सम्पत् हैं। च्यूं कि ममत्व होता है, इससे उनमें आत्मा की अहं कृति देखी जाती है और उनमें से एक की हानि से वह आत्मा अल्प सी लगती है। यही उसका दुःख है। इसलिए जब तक वह एक-एक कला के विनाश से क्रम से नष्ट होता रहता है तब तक विभूति सम्बन्ध से अन्तर में अपनी महिमा के भीतर स्थित होते हुए भी दुःख पाता है। फिर जो उसकी मृत्यु है वह परम दुःख—परा आर्तिः है। यदि कोई यह कहे कि फिर तो मृत्यु ही है अर्थात् वह तो नष्ट ही होगया, तो यह कहना ठीक नहीं। उसकी तो निश्चित् सत्ता मानी गई है। यह सत्ता ही वह आनन्द हैं। जो है वही मिलता है—उपलब्ध होता है। यही उपलब्धी है। जो मिलता है, उपलब्ध होता है वह निश्चित् है—वही सत्ता है।

सत्ता दो प्रकार की है—भाति सिद्धा अस्ति और अस्ति सिद्धा भाति अथवा भाति सिद्ध सत्ता और सत्ता सिद्ध भाति। **रस उभय सिद्ध है।** जो 'अस्ति' है वह भाति-उपलब्धि है। जो भाति-उपलब्धि है वह 'अस्ति' है। जो भाति-सिद्धा अस्ति है, वही अस्तिसिद्धा भाति है। इसमें रस उभय

सिद्ध है। न 'अस्ति' भाति पूर्वा है, न अस्ति पूर्वा भाति। न इन दोनों के बिना रसका ही पता चलता है, रस की भी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए एक ही अव्याकृत की व्याख्या करने पर, अथवा एक भी अव्यक्त के व्यक्त होने पर उसकी तीनों प्रकार से व्याख्या हो जाती है, अथवा कहें कि उस ही अव्यक्त का तीन प्रकार से व्यक्तिकरण होता है। अव्याकृत का अर्थ अव्यक्त है और व्याकृत व्यक्त।

संक्षेप में उपरोक्त विवेचन से जो **निष्कर्ष** निकलते हैं वे निम्न हैं :—

१. रस-आनन्द-भूमा-विज्ञान-ज्योति समानार्थक हैं।

२. ममता और अहंता का क्रमशः एकत्र ही समावेश होता है। प्रजा, वित्त तक आत्म विभूति है। इसलिए ही सम्पदादि के भी विनाश पर आत्मा के अंश की हानि होती हैं जिससे आत्मा में विकलता होती है।

३. यद्यपि सम्पत्ति आदि एक से दूसरे की होकर भी विद्यमान तो रहती ही है, तो भी अपने और उसके व्यवधान, अन्तर हो गया इससे दुःख उत्पन्न होता है। श्रुति कहती है—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" इति। (तै० ३४० ब्रह्मानन्दवल्ली ७ अ०)

४. मृत्यु तो परम दुःख—आर्ति है। उसमें तो भूत चिति से भी वियोग होता है। इसलिए मृत्यु परार्त्तिरूप प्रसिद्ध है।

५ सत्ता दो प्रकार की—भाति सिद्धा, अस्ति सिद्धा। भाति और अस्ति दोनों ही रस के रूप हैं। रस उभय सिद्ध है।

६. 'अस्ति' क्रिया है; 'अस्तिः' संज्ञा है। भातिसिद्धा में समास है। 'भाति' क्रिया है; "भाती" संज्ञा।

श्रुति-स्मृति में रस की व्याख्या सच्चिदानन्द रूप से की है। रस से सत्ता, चेतना, आनन्द ये तीन धर्म प्रकट होते हैं। ये भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। जो 'है' उसी का ज्ञान होता है। सत्ता ज्ञानाश्रित है। सत्ता ज्ञान के और ज्ञान सत्ता के आश्रित हैं। दोनों के ही अन्योन्याश्रित होने से अविनाभाव रूप एकता सिद्ध होती है। भेद मानने वाले कुछ लोग कहते हैं कि कुछ पदार्थ हैं जो केवल सत्तासिद्ध ही हैं। वे किसी से भी नहीं जाने जाते, फिर भी वे हैं जरूर। कुछ केवल ज्ञानसिद्ध हैं, जैसे दिखाई देने वाले पदार्थों में संख्या, माप-मात्रा। ये दूसरे पदार्थों की अपेक्षा से मनुष्यों की बुद्धि की ही कल्पना है। उन वस्तुओं में स्वयं में एकत्व-दीर्घत्व आदि कोई धर्म नहीं है। नैयायिक अपेक्षाबुद्धि से एकत्व आदि की उत्त्पत्ति मानते हैं; परन्तु जब तक अपेक्षाबुद्धि है तब तक ही उनकी स्थिति है। बुद्धि रहित कल्पना अपदार्थ की कल्पना ही हैं। पृथक्त्ववादियों का कहना है कि कुछ पदार्थ हैं ही परन्तु जाने नहीं जाते; कुछ केवल प्रतीत होते हैं किन्तु है नहीं। जो हैं और जाने भी जाते हैं वे उभय सिद्ध हैं। इस प्रकार सत्ता और उपलब्धिका अविनाभाव नहीं है और इनको पृथक् मानना चाहिए।

न्याय के इस विकल्प का उत्तर है किजिस "अस्ति" से अर्थात् सत्ता से पृथकत्ववादी पदार्थों की सत्ता मानते हैं वह सत्ता स्वयं भाति सिद्धा है। घट, पटादि में हमारी "अस्ति" बुद्धि है, परन्तु इसके अतिरिक्त सत्ता नामक कोई पदार्थ उन द्रव्यों में कहीं नहीं देखा जाता। नैयायिकों द्वारा सत्ता के पृथक् प्रतिपादन का अन्य दर्शनों में विस्तार से विरोध किया गया है जिसे जिज्ञासुओं को वहीं देखकर अपनी तृप्ति करना चाहिये। वास्तव में नैयायिक भी सत्ता की सत्ता को, अनवस्था आदि के भय से, नहीं मानते। सत्ता उपलब्ध होती है, फिर भी वह सत्तासिद्ध नहीं है, अर्थात् सत्ता की सिद्धि के लिए किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा नहीं है। वह स्वयं सिद्धा ही है। भगवान् कणाद भी कहते हैं—"सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्"। वै० सू० १ अ०, २४१०॥ इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि जो भाति सिद्ध है वह सत्ता है और भाति शब्द से जो ज्ञान कहा गया है वह तो आत्मा की केवल सत्ता है, न कि केवल ज्ञान का दूसरा ज्ञान। नैयायिक अनवस्था दोष का निवारण करने के लिए "अनुव्यवसाय" मानते हैं जिसका भी खण्डन अन्य दर्शनों ने किया है। इसलिए यह कहना ठीक ही है कि "अस्तिसिद्धा भाति" है। इससे सत्ता का ज्ञान सिद्ध होने से और ज्ञान का सत्तासिद्ध होने से **दोनों का ही परस्पर आश्रित रूप अविनाभाव** ही सिद्ध होता है।

वास्तव में न अस्तिपूर्वा भाति है, न भातिपूर्वा अस्ति। इन दोनों के बिना रस का भी पता नहीं चलता, अर्थात् ज्ञान से पूर्व अस्तित्व हो ही नहीं ऐसा नही है। और न ज्ञान होने से पूर्व अस्तित्व होना आवश्यक है। रस की उपलब्धि भी इनके कारण ही होती है।

निष्कर्ष यह है कि एक ही मूलतत्त्व त्रिधा विभक्त होता है। इनमें परस्पर भेद नहीं है। आनन्द, विज्ञान, रसरूप प्रतिष्ठा का जो एकत्व कहा गया है वह इनके अविनाभाव के कारण है। एक दूसरे के बिना यह हो नहीं सकते। **सत् चित्-आनन्द एक ही मूल तत्त्व के तीन भेद हैं।**

ज्योति, प्रतिष्ठा और विधृति भिन्न हैं—अलग अलग हैं यह नहीं कहा जा सकता, विचारा भी नहीं जा सकता। जिसकी भाति—ज्योति, रूप न हो वह है कैसे? और प्रतिष्ठा रहित की भाति कैसे? जो अधृत है वह कैसे दिखेगा? न उसका अस्तित्व ही होगा। इस प्रकार **ज्योति प्रतिष्ठा, विधृति** एक ही हैं। **ज्योति, प्रतिष्ठा, विधृति क्रमशः मन, वाक्, प्राण रूप है। सत्ता, चेतना, आनन्द भी उन रूप ही है।** कारण कि **इन सब का अविनाभाव हैं। इन तीनों की एक ही सत्ता है,** इसलिए भी तीनों एक ही हैं। इनका ज्ञान तीन तरह से होता है, इसलिए एक ही की तीन प्रकार से व्याख्या की जाती है। ये सद्रूप से सब एक हैं तथा विज्ञान भेद से इनका पार्थक्य है। **ज्ञान** भेद से सत्ता में विभिन्नता होती है। सत्ता भेद से धी:-बुद्धियां-धारणा, विधारणा में भी भेद हो जाता है। इनके भेद से ही रस में भी भेद होता है। इससे सामान्य विशेष उत्पन्न होते हैं। रस में प्रतिष्ठावश पृथकता आती है। कहीं विज्ञान वश पृथकता है। कहीं प्रतिष्ठा और विज्ञान दोनों ही पृथक् होने से पृथकता है। इस प्रकार रस में पृथकता को समझना चाहिये। कहीं ज्ञान भेद से सत्ता भेद मालूम होता है; कहीं तो सत्ता भेद से एक ही ज्ञान में भेद सा लगता है। इनके भेद से ही रस में भी भेद सा प्रतीत होता है। रस में इस भेद से ही सामान्य विशेष भाव होता है। विभिन्न सत्ता वाले होने पर भी इन्द्रियों को व्यक्त होने वाली अनन्य आकृतियों के एक भाव से बुद्धि एकाकार होती है—यह आकृति सामान्य कहलाती है। एक ही सी आकृति होने पर भी

किंचित् विलक्षणता के कारण, जैसे—सींग, कम्मल आदि, विभिन्नता होती है उसको विशेष कहते हैं। यह सामान्य, विशेषभाव बुद्धिकृत हैं। इसका रस में आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ—पगड़ी, कपड़ा, तन्तु, मिट्टी ज्ञान के भेद हैं—इनका पृथक् से ज्ञान होता है, परन्तु सत्ता की दृष्टि से ये पृथक नहीं हैं। इनमें सत्ता एक ही है। इसी प्रकार सत्ता के अनन्त होने पर भी, जैसे एक गाय के सींग, स्तन, हाथ आदि की सत्ता पृथक् पृथक् है, वह "गाय" है यह कहा जाता है। यह प्रतिपत्ति की अपेक्षा से है। यह बुद्धि में एकत्व होने पर भी सत्ता भेद का उदाहरण है।

निष्कर्ष यह है कि सत्ता, चेतना, आनन्द तीनों ही धर्म अमृत हैं, नित्य हैं। ये तीनों परस्पर अविनाभूत हैं, इसलिए अभिन्न कहे जा सकते हैं। ये भिन्न भी हैं और अभिन्न भी और ये परस्पर आश्रित हैं। जो एक रूप है, अव्यय है, अमृत कहा जाता है वहीं यह मृत्यु (बल) अनेक रूप हो नृत्य करती है। अमृत रस सर्वत्र अनुस्यूत है, व्याप्त है। उसके कारण एकत्व है। मृत्यु नामक बल नाना रूप तथा क्रियात्मक है और नाना भाव से-अनेक होकर नानात्व से ही नाचता है।

यह "एकोऽहं बहुस्याम," "बहुधा विजायते" की व्याख्या है—अनुवाद है। आचार्य मधु कहते हैं—

तेनाऽत्र धर्मा अमृता इमे त्रयो, (सत्ता, चेतना, आदन्द)
भिन्ना अभिन्नाश्च परस्पराश्रया।
रूपं तदेकं पर मुच्यतेऽमृतं,
तत्रैष मृत्युर्बहुधैत्य नृत्यति॥ (आ० मधु)



२५. दुःखाधिकरण

इस प्रकरण में **सुख दुःख का स्वरूप** बताया है। प्रश्ण उठते हैं कि आत्मा सदा आनन्दमय है, अथवा सदा दुःखमय ? भय क्या है ? आत्मा कैसे दुःखी होता है ? अथवा दुःख क्या है ? **भय क्या है ?**

इस सम्बन्ध में आचार्यश्री मधु कहते हैं कि रस और बल दोनों पृथक् स्वभाव वाले हैं। रस आत्मा है और बल आत्मशक्ति। रस के कारण वह नित्य आनन्दमय है।

तो फिर यह दुःख, भय कैसे ? संसार में तो सर्वत्र भय और दुःख का ही साम्राज्य है। आत्मा दुःख मय है यह अनुभव होता है। आचार्य अभियुक्त तो लौकिक सुख को भी दुःख रूप ही गिनते हैं, क्योंकि वह परिणाम में ताप देता है। योग सूत्र में लिखा है—"संस्कार दुःखैर्गुण विरोधाच्च दुःख मेव सर्वं विवेकिनः" (यो० सू०)। बौद्धों ने तो आत्मा को दुख रूप ही कहा है।

पूर्व में रस-बल नाम के दो मूल तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। उनमें रस आनन्द रूप है और बल सम्बन्ध में भय-दुःख का उदय होता है। मात्रा रूप बल से सम्बन्ध के अभाव में भय, दुःख, शोकादि रूप विकृति नहीं होती, क्योंकि आत्मा एक रूप होने से विचाली है। माया नाम के बल से परिच्छिन्न होने पर तो आत्मा में भय शोकादि उत्पन्न होते हैं। कर्म प्रधान क्षर पुरुष में भय शोकादि होते हैं। काम, कर्म प्रधान जीवों में भी भय दुःखादि का प्रसार होता है, क्योंकि उनमें कर्म प्रधान होने के कारण वह कर्मात्मा है। ज्ञान प्रधान जीवों में उनका प्रसार नहीं होता, अथवा थोड़ा होता है। इसीलिए यह आत्मा दो प्रकार की कहा गई है—(१) निष्कल आत्मा, (२) कार्यात्मा। मुख्य आत्मा में दुःखादि नहीं होता। माया शबलित आत्मा में ये होते हैं।

आत्मा दो प्रकार का है—एक अखंड, कर्म से निष्कल। इसलिये यह विचाली नहीं है। न उसके भय है, न दुःख-शोक, न जरा, न काम। **कर्मात्मा** नामक जो अवर आत्मा है वह सर्वकाम, सकल, सकर्म है। वह **दो प्रकार का है क्षर** और **अक्षर**। इनमें अक्षर अविचाली है। उसका दुःख से सम्बन्ध नहीं है। जो प्रज्ञानात्मा है वह क्षर है। वह विचलित होता है। वह काम वश दुःखी होता है। इस प्रज्ञ के ही दुःख और भय है। वह द्वन्दमय कहा गया है। प्रज्ञानात्मा और काम के समवाय सम्बन्ध है, अथवा काम प्रज्ञानात्मा का समअवयवी है। वही कामा मा है।

आत्मा विचलित होती है इसे भय कहा गया है और जो आत्म-हानि है वह निश्चय दुःख है उसका विचलित नहीं होना ही स्वास्थ्य कहा गया है। जो आत्म वृद्धि है उसे सुख कहते हैं।

कुछ कहते हैं कि ऊपर जो काम-हानि को आत्म-हानि कहा है इस मत में तन्त नहीं है। आत्मा-काम को ग्रहण करता है, छोड़ता है, काम हानि से उसकी हानि कैसे होती है ?

इस पर आचार्य श्री मधु कहते हैं कि यह काम आसक्ति और अनासक्ति वश आत्मा में दो प्रकार से रहता है। काम में आसक्त की आत्मा सकाम, कामानुग. काममय होती है। जो आसक्त है वह काम को आत्मा में आरोपित करता है अर्थात् वह काम को आत्म रूप समझने लगता है। अतः काम हानि से आत्म-हानि समझता है जो उचित ही है। इसी आसक्ति को गीता में सङ्ग कहा है। यथा "सङ्गात् सञ्जायते कामः।"

काममय कामात्मा की आत्मा इन कामों में ही विभक्त रहती है। जिसके काम की जितनी हानि होती है उतनी ही उसके आत्मा की हानि होती है। टीकाकार श्री चतुर्वेदीजी कहते हैं कि काम यद्यपि भिन्न है तथापि आत्मा का उनसे विभूति सम्बन्ध होता ही है। उस सम्बन्ध को यदि हानि होती है तो काम और आत्मा के अन्तर आ जाता है और अन्तर-भेद से भय होता है। यह औपनिषदिक सिद्धान्त है।

आचार्य मधु कहते हैं—आत्मा का काम से विभूति सम्बन्ध होता है। काम की हानि होने पर, काम को चोट पहुंचने पर आत्मा की भी हानि होती है—उसको चोट पहुँचती है। आत्मा के भीतर-उदर में जो यह भेद होता है उससे काम की हानि होने से वह दुखी होता है।

यह तो हुई प्राप्त की हानि की बात। अप्राप्त की खोज से भी दु:ख की अनुभूति होती है। अप्राप्त काम की यदि कामना-इच्छा की जाये उससे भी काम को अपने स्वरूप में प्रवेश करने के लिये उसे आत्मसात करने के लिये आत्मा बढ़ता है—फैलता है। इस दशा में जब तक वह काम प्राप्त नहीं कर लेता तब तक दु:ख पाता है। इस प्रकार अपनी काम हानि से, अथवा काम के पीछे पड़ने से आत्म हानि के कारण आसक्तिमान वह काममय होकर दु:ख और भय को, अथवा सुख को नित्य पाता है।

दु:ख से भय और भय से दु:ख होता है। इसलिये दु:ख भयसमन्वित होता है। दु:ख न हो तो भय न हो, अथवा भय न हो वहाँ दु:ख उदय नहीं होता। आत्मा विचलित न हो तो अवसाद नहीं होता। यथा,

भयं नु दु:खेन भयेन दु:खं समन्वितं रूपमुदेति तस्मात्।
दु:ख न चेन्नास्ति भयं भयं वा न चेन्न दु:खं समुदेतितत्र॥

अन्य कुछ लोग कहते हैं कि 'भय बिना दु:ख नहीं होता'। उनका कहना है कि आकस्मिक आघात के कारण अपनी ('स्व' की) हानि होने पर और मृत्यु पर दु:ख होता है, डर नहीं। दु:ख का ही सहसा अनुभव होता है। पहले से भय नहीं होता। आघात आकस्मिक होता है। यह मत ठीक नहीं है।

आत्मा-कर्मात्मा अशनाया वश यत्न से अन्न संग्रह करता है। इस सुयोग से सुख होता है। अयोग, हीनयोग, अतियोग, विरुद्धयोग जैसे प्रज्ञापराध से दु:ख होता है। अशनाया का अर्थ अन्न ग्रहण की इच्छा है। उससे आत्मा में—उसके आयतन में जो अन्नादि संग्रह किये जाते हैं उसके सुयोग से सुख, अयोग (अप्राप्ति), हीन योग (अल्प प्राप्ति), अतियोग (अन्न, भोजनादि का बाहुल्य) विरुद्ध योग (अपथ्य भोजनादि) में दु:ख का अनुभव होता है, न कि भय की अनुभूति।

दु:ख दो प्रकार से होता है—प्रज्ञा को लेकर मानसिक अथवा शारीरिक। चाहे भौतिक हो चाहे बौद्धिक या मानसिक, दु:ख-रोग का ही अनुभव होता है। भय नहीं दीखता। दु:ख मानसिक हो, या शारीरिक वह दु:ख ही है, भय नहीं।

कुछ लोग दु:ख चार प्रकार का होना कहते हैं। भयजन्य दु:ख तो केवल दूसरे नम्बर का है। प्रज्ञा-मन के कम्प से अथवा दु:ख से जो शून्यात्मा हो वह दु:ख है, डर नहीं।

कुछ तीन प्रकार का दुःख बताते हैं—काम के अवसाद से जिसे परिद्रत कहा गया है, आत्मकम्प से भय तथा आत्मा के अवसाद से शून्य। इनमें उक्त चारों प्रकार के दुःखों का समावेश हो जाता है। यह केवल प्रक्रिया भेद है।

उपरोक्त विरुद्ध कथ्यों का समाधान करते हुए आचार्य मधु कहते हैं कि भय के बिना दुःख नहीं है, कम्प के बिना अवसाद नहीं। यदि आत्म की काम हानि होने पर भी आत्मकम्प न हो तो दुःख न हो। निष्कर्ष यह हैं कि **भय के बिना दुःख नहीं होता।**

आत्मा के सात अन्नरूप परिग्रह के भीतर कम्प होने की दशा में भय का अनुभव होता है, किन्तु बुद्धि-मन-प्रज्ञा के प्रकम्पित होने की दशा में तो दृष्टा का प्रसाद अर्थात् ग्रहणसामर्थ्य अर्थात् उसकी पहुँच नहीं होने से दृष्टा को भय का अनुभव नहीं होता। **आत्मा के सप्तान्न-सप्त परिग्रह हैं—नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, और विज्ञान तथा बल के सप्तान्न हैं—अन्न, अप्, तेज, आकाश, काम, आशा और प्राण।**

तत्काल मृत्यु हो उस दशा में सातों ही स्थानों में क्षणभर में प्रसारित भय आकस्मिक वेग के कारण प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार दुःख का भी पता नहीं चलता।

यह समस्त दुःख भय स्वरूप हो, अथवा उससे भिन्न आत्मा सम्बन्धी हो, अथवा जैसा भी हो वैसा हो, कामासक्तात्मा के तो यह दुःख और भय होता ही है। भय और दुःख को पृथक् पृथक् अथवा भय के बिना भी दुःख मानें तो भी इसमें कोई अन्तर नहीं आता। भय और दुःख कामासक्ति से ही होते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं, न इसमें कोई विवाद है।

काम में अनासक्त आत्मा को काम पर आघात होने पर आघात नहीं पहुँचता। विचलित होने के कारण के अभाव में वह विचलित नहीं होता। उसके विचलित होने का कोई कारण होता ही नहीं अतः वह विचलित नहीं होता। उसे ही संस्थितधीः— स्थितिप्रज्ञ कहते हैं। जिसकी आत्मा स्थिर है उसको दुःख नहीं। स्थिर होना और साथ ही विचलित होना परस्पर विरोधी बातें हैं। इसलिये स्थितप्रज्ञ अपने वित्त आदि काम की हानि होने पर भी दुखी नहीं होता। आत्म स्थिति से च्युति ही भय और दुःख का कारण है।

आसक्ति तो उसमें अज्ञान वश होती है। ज्ञान से असक्ति (अनासक्ति) होती है। भय का कारण अज्ञान ही है। आचार्य मधु कहते हैं कि हम विज्ञान को अभय कहते हैं। यथा,

आसक्तिरज्ञानवशात्तु तस्मिन् प्रवर्तते ज्ञानवशात्वसक्तिः।
अज्ञानमेवास्ति भयस्य हेतुर्विज्ञानमेवत्वभयं वदामः॥

कामासक्त अकस्मात् पहले न देखे हुए बल के आधिक्य को देखता है इसलिये डरता है, चकित हो भ्रमित होता है—दौड़ता है। जब उसे ज्ञान होता है तब शान्त हो जाता है। जो समझदार अन्दर जाने के नियम को नहीं जानता, वह राजा के महल में जाने से डरता है। अनजाने स्थान में घुसते हुए जो पहले डरता है वही शिक्षित होकर दुर्ग में भी निशंक हो चला जाता है। इससे यह **निष्कर्ष** निकलता है कि **भय, अज्ञान वश होता है।** अबोध-अज्ञान की जितनी मात्रा होती

है उतनी ही भय की मात्रा होती है और विवेकशील पुरुषों के ज्ञान की मात्रा के अनुपात से शान्ति की मात्रा भी सर्वत्र देखी जाती है। ज्यों ही ज्ञान हुआ कि उसी समय भय दूर हुआ। इस भय से प्रज्ञा अवश्य विचलित होती है। शान्त होने पर वह फिर स्थिर हो जाती है और जब आत्मा की प्रज्ञा का नाश होता है, तब वह मरता है। यह भय की पराकाष्ठा है।

जब अधिप्रज्ञ में कम्पन होता है विषयों से आत्मा की विभूति उत्क्रमण कर जाती है। अर्थात् विषयों से आत्मा का विभूति सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। केन्द्र में कम्प के कारण तम-अन्धकार-अज्ञान हो जाने से प्रकम्प के कारण, प्राण वाक् आदि में क्रमशः विकार होता है। गीता कहती है—"संगात् संजायते कामः"।

सकम्प प्राण दुर्बल होता है। यह बल से डरा हुआ भागता है अथवा डर के कारण वाक् कम्पित होती है। वह डरते हुए मुख से अकस्मात् भय की आवाज निकालता है। वायु जब सकम्प होती है तो शरीर में अधिक कम्पन होता है। श्वास तेज होता है। तेज में कम्प होता है तो मुंह सूखता है, गर्म श्वास चलती है, शरीर जलने लगता है। जल विकम्पित होने पर शरीर सहसा पसीने-पसीने हो जाता है। अथवा मृद्-पृथ्वी तत्व में कम्प होने पर स्तब्धता होती है, प्राण निकलने लगते हैं और मनुष्य मूछित हो जाता है। गीता में अजुन की कुछ ऐसी ही दशा का वर्णन है।

इस प्रकार देर तक भय बने रहने पर देर तक विकार होने से अति दुर्बल आत्मा की प्रज्ञा जब निमल होकर सर्वथा उत्सन्न हो जाती है तब वह शीघ्र ही मर जाता है। यदि प्रज्ञा अल्प मात्रा में हो, अल्पबला हो, शिथिल हो तो अल्प चेतना प्रयत्न करने पर मालूम होती है। प्रज्ञा में जब तक आत्मप्रकाश होता है तब तक ही जीवन है यह कहा जाता है। प्रकम्पित जल में प्रतिबिम्ब की तरह जब प्रज्ञा में आत्म प्रकाश न हो तब उसे ही मृत्यु कहते हैं। उस समय पूर्णरूप से चलायमान प्रज्ञा में चिदाभास की विभूतियाँ नहीं रहती। भय अल्प हो तो प्रज्ञान के कम्प से प्रज्ञान में विकार (विक्रिया) पैदा होती है। प्रज्ञा में विज्ञान होने पर प्रतिष्ठित-स्थिर हो जाती है। प्रज्ञा में विज्ञान पर्याप्त रूप में प्रतिष्ठित होने पर वह प्रसन्न होती है—'प्रसीदति'।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अज्ञान से ही भय होता है तथा ज्ञान से भय की निवृत्ति होती है।

यह भी कहा जाता है कि अज्ञान से भय होता है। यह मत गलत है। भय तो ज्ञान से होता है। अज्ञान से तो मनुष्य निर्भय होता है। उदाहरणार्थ—बड़ के पेड़ में यक्ष रहता है यह जानने पर भय होता है, परन्तु पता न हो तो वह बड़ के पास रात्री में निर्भय सोता है और दिन में भी डर नहीं होता। दूसरा उदाहरण—राजा के महल में प्रवेश निषिद्ध जानकर वह भीतर जाने में डरता है। इसी तरह ज्ञान से भय होता है। जो मूर्ख राजा–रंक का भय नहीं जानता वह निर्भय हो प्रवेश करता है। इसलिए भय ज्ञान से ही होता है। जड़ात्मा का अज्ञान ही शरण है।

उक्त दृष्टिकोण में यह आपत्ति है कि यदि ज्ञान से भय हो तो ज्ञान को अमृत, विज्ञान, आनन्दमय, अभय कैसे कहते ?

आचार्य मधु का कहना है कि भय अज्ञान कृत नहीं है, न भय विज्ञान कृत ही है। वास्तव में ज्ञान अज्ञान से आवृत्त होता है तब सबको मोह होता है। यही भय का हेतु है। गीता में भी यही कहा है कि—"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्तिजन्तवः। तथा—

"अत्राहुरज्ञानकृतं न तद्भयं न त्वेव विज्ञानकृतं क्वचिद् भयम्।
ज्ञानं यदज्ञानवृतं तदागमान्मुह्यन्ति सर्वे भयहेतुरस्तितत् ॥"
(आ. मधु)

पुरुष प्रकृति भेद से सुख, दुख, भय प्राप्त करता है। जो विज्ञान को आत्मरूप मानता है उसका आत्मरूप विज्ञान सदा ही एक रूप होता है। उसके विचलता का अभाव होने से वहाँ भयादि सम्भव नहीं है। प्रज्ञागत विज्ञान के बढ़ने पर सुख ही होता है न कि भयादिक। वह आत्म बुद्धि से रस का भोग करता है। उससे वह आनन्द युक्त हो जाता है तब उससे भय नहीं होता। तात्पर्य यह है कि विज्ञान से दुःख या भय नहीं होता।

जब ज्ञान अज्ञानावृत होता है, प्रज्ञा ढीली, अल्पबला, अप्रतिष्ठिता, अज्ञान बल से आहत होती है तब वह अपने स्थान से च्युत होती है। यह च्युति कंप-भय का कारण होती है।

मात्राकृत बन्धन दो प्रकार का होता है—कहीं ढीला तो कहीं दृढ़। वज्र में बन्ध अत्यन्त दृढ़ होता है और रूई में ढीला। ऐसा ही सबमें समझें।

यह बन्ध विपुल हो तो ढीला होता है और छोटी वस्तुओं में भी दृढ़ होता है जैसे वज्र में। यदि बल का आधिक्य है तो यह शिथिल बन्धन भी समय पर क्रम से निश्चय ही दृढ़ बन्धन हो जाता है। शिशु प्रज्ञ (मानव) का बन्ध भी पहले ढीला होता है इसलिए वह थोड़ी विभीषिका, भय-जन्य वस्तु से भी डरता है, किन्तु जब क्रम से विज्ञान का उपार्जन होता है तो साथ ही उसमें बल भी आता हैं। जैसे-जैसे ज्ञानवश बलों का उदय होता है, प्रज्ञ का बन्ध भी बलों के कारण दृढ़ हो जाता है। जितनी बल में दृढ़ता होती है उसी क्रम से प्रज्ञ भी भय से विचलित नहीं होता। जब बल विज्ञान के साथ आता है तब प्रज्ञ का प्रतिष्ठा से सम्बन्ध होता है और जब अज्ञान के साथ बल आता है तब उसी क्रम से प्रज्ञात्मा प्रतिष्ठा से च्युत होता है।

अन्ततः यही निष्कर्ष है कि यह भय का उदय अज्ञान कृत है। शमक्रम ज्ञानकृत है। विज्ञान से प्रज्ञा में धारण किये हुए बल के उदय से उद्वेग, शोक, आकुलता, भ्रांति नहीं होती। विज्ञान से बन्धन से मुक्ति मानी गई है। विज्ञान से बन्धन कभी नहीं होता। तो भी अभी जो प्रज्ञ का विज्ञान वश बन्धन होना कहा यह न है, न इसका कोई औचित्य है। इस शंका पर आचार्य मधु कहते हैं कि—यह विज्ञान विकाश करने वाला, विकाशी है। विकाशस्वभाव होने से बन्धन मुक्ति होती है। विज्ञान जिस कर्म को विशेषरूप से स्वीकार करता है—गृहण करता है वही विस्फोट करता है—यह निश्चय है। विकाशशील विज्ञान जिस कर्म को भी स्वीकार करता है उसी का विकाश करता है। विज्ञान यदि संसार से विमुख होता है तो मोक्ष करता है और यदि विज्ञान संसाराभिमुख होता है तो संसार व्यवहार में दृढ़ता आती है, मोक्ष नहीं होती। इसलिए संसाराभिमुख विज्ञान बन्ध की दृढ़ता ही करता है।

विज्ञान-मन उभयात्मक है। यही, 'कारण बन्धन-मोक्षयो:' गीता के अनुसार बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण है। यह प्रतिग्रहण भी करता है और अनुग्रहण भी। अनुग्रह से तम मुक्त होता है। प्रतिग्रह से मर्त्यकार्य के अनुयोग के अनुसार ही मल रूप सिद्धि होती है। प्रज्ञात्मा में स्थित यह वाह्याभिमुख विज्ञान वाह्य कामनाओं को ही सदा प्रतिभाषित करता है। विज्ञान जब परावर्तित मन से प्रज्ञा में प्रवेश करे तब आत्मज्ञान के रूप में वह मुक्त होता है।

विज्ञानाकाश के विस्तार से अन्नाद के अन्न का विस्तार होता है। विज्ञानाकाश के साथ-साथ अन्न का विस्तार होने से अन्न का बन्ध क्रमश: हीन हो जाता है और जब अन्न की तरह विज्ञान भी साथ ही बढ़ता है तब इसमें अन्न का बन्धन नहीं होता। अन्न का विस्तार क्षीण हो जाता है और यह बिना अन्न के बढ़ा हुआ विज्ञान तो मुक्ति के लिए अर्थात् मुक्त करने वाला होता है। और जब अन्न के साथ ही विज्ञान बढ़ता है तो यह विधृतअन्नसंचय प्रज्ञानात्मा अर्थात् मन की धृति का क्रमश: संवर्धन करता है। धृति की मात्रा के अनुसार भय का क्षय होता है और इस प्रकार निश्चय ही यह विज्ञान बाह्य अर्थों को धारण करते हुए प्रज्ञ को समर्थ बनाता हुआ प्रज्ञा के भीतर अन्तरमुख होता है तो उससे मुक्ति होती है। यह तम को दूर कर, अज्ञान को नष्ट कर रस का विस्तार करता है।

इस प्रकार विज्ञान उभय मुखी है—यह निश्चित् होता है। इससे बन्ध भी होता है और मुक्ति भी। यह "कारणबन्धनमोक्षयो:" है।

अत: विज्ञान सिद्धि के लिए अवश्य यत्न करना चाहिये। 

तृतीय भाग

(२६) मूलबलाधिकरण

पहले सामान्य रूप से यह कहा गया था कि **रस अमृत और ब्रह्म है और बल मृत्यु और कर्म**। इनमें से ब्रह्म का निरूपण पूर्व में किया। अब पर, **अव्यय कर्म का निरूपण** किया जाता है।

रस प्रधान प्रतिपत्तिशास्त्र वेदान्त कहा गया है। यह वेद का—ज्ञान का अन्त-सीमा है। उसके परे कोई ज्ञान नहीं है। फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। अथवा, वह आन्तरिक ज्ञान है। वह भीतरी ज्ञान है—'अन्तः वेदः' है। और **बल प्रधान विचार भाग सांख्य है**। इसमें बलों की तत्वों की गणना–संख्या की जाती है। कहा है—"बलानां संख्यानं सांख्यम्।"

जिस प्रकार रस और बल में परस्पर स्वरूप संसर्ग से आत्म सृष्टियाँ होती हैं, उसी प्रकार स्वरूप संसर्ग से शक्ति का उदय भी होता है।

इनमें जो कुछ भी **आधार** होता है वह **अत्ता** है ओर जो **आधेय** है वह **अन्न**। दोनों अत्ता और अन्न, आधार और आधेय का एक रूप से विचार किया जाय तो केवल अत्ता ही रहता है। आद्य-अन्न, आधार–आधेय की पृथक् स्थिति नहीं रहती।

जब बल में रस भुक्त अर्थात् लीन न हो, अथवा जब रस से बल भुक्त हो—रस में बल लीन हो जाय तब रस ही अवशेष रहता है—बल रस से भुक्त–उसमें लीन होता है—वह **रस आत्मा** है, वह **वृषा** है। वह **अव्यय, अक्षर. क्षर**, त्रिविध है। रस के बल द्वारा भुक्त होने पर अर्थात् जहाँ रस बल में लीन हो और बल ही शेष रहे वह **बल शक्ति है, योषा है**। यही शक्ति महत्–अहंकार मात्रा आदि हैं।

जब बल रस में मिलकर–रस से संयुक्त हो स्वरूप से विवर्तन करता है अर्थात् रसरूप से ही प्रतीत होता है—बल का पृथक् व्यवहार नहीं रहता तब बल विलीन होता है। बल के द्वारा खाये जाने पर. भुक्त होने पर रस में विलक्षणता–कुछ वैलक्षण्य पैदा होता है। उसे स्मृतियों में अपनी शक्तियों से 'सर्वकाम' कहा है। जब रस भी बल में संयुक्त हो अपने स्वरूप को छोड़ बल रूप प्रतीत होता है तब रस की प्रतीति नहीं होती। बल रस को चाट कर विलक्षण सद्रूप से भासित होता है और आत्मा से जुड़ जाता है। जैसे आत्मा को ब्रह्म माना जाता है, उसी तरह इस **शक्ति को भी ब्रह्म ही माना जाना चाहिए**।

ब्रह्म दो रूपों में प्रकट होता है—**वृषा तथा योषा**। योषा शक्ति है और वृषा आत्मा। वृषा रस प्रद है। रसप्रद होने से विस्र समान–क्षरणशील है। फिर भी रस प्रदान कर फिर पृथक् रूप से ही अर्थात् निर्लिप्त रहता है। और योषा वह है जो रस को अपने अन्तस्थ कर-गर्भित कर स्वयं को रस के साथ सश्लिष्ट कर अपत्यरूप 'अदः' का सृजन करता है। जिस आत्मा के साथ जिस शक्ति का योग होता है वही उस पुरुष की योषा-शक्ति होती है। क्षर की योषा—शक्ति प्रकृति है और माया पर–अव्यय और अक्षर की जननी-योनि है। माया, योनि, और प्रकृति के प्रयोग में सांकर्य-संकरता पाई जाती है. अर्थात् कहीं माया के स्थान पर योनि अथवा प्रकृति का प्रयोग होता है, कहीं योनि का माया और प्रकृति के अर्थ में। शक्ति-प्रकृति से भोग्य

की उत्पत्ति होती है। भोग्य वापस प्रकृति में लीन हो जाते हैं। योनिज क्षरभूतभाव भोक्ता-आत्माएं हैं, परन्तु स्वयं भोग्य नहीं हैं। जो माया से कुछ-किञ्चद् रूप बनता है वह न भोक्ता है, न भोग्य—वह अक्षर है।

स्वरूप संसर्ग तीन प्रकार से उदित होता है; **बन्ध** से, **योग** से, और **विभूति** से। इन तीनों से ही **शक्ति भी त्रिधा** होती है जिन्हें **सत्व, रज, तम** नाम से त्रिगुण कहते हैं। यह शक्ति त्रिगुणात्मक है, त्रिगुणमयी है। वह शक्ति ही नहीं जहां ये तीनों सत्व, रज, तम न हों।

फिर यह शक्ति आत्मरस योग के कारण त्रिधा—महान्, अहंकार, और मात्रा-तन्मात्राऐं रूप हो जाती है। शुद्ध बल शुद्ध रस को निगलकर (निगीर्य)—आत्मस्थकर-आवृत्तकर-अन्तस्थ कर जिस रूप से व्यक्त होता है वह रूप **'महान्'** है। जब यह महान्—महत् फिर बलानुबन्धि रस को आत्मस्थ करता है—निगल जाता है—आवृत्त कर लेता है तब जो रूप व्यक्त होता है वह अहंकृति-**अहंकार** कहलाता है। और फिर जब यह अहंकृति अन्य बल युक्त रस को आत्मस्थ करती है तो **मात्राऐं** उदय होती हैं। फिर जब ये मात्राऐं-तन्मात्राऐं बल युक्त रस को आवृत्त करती हैं तो विविध **काय**—शरीर होते हैं।

इन तीनों में महान् में जो गुण होते हैं उन्हें **विक्षेप, काम, आवरण** जानो। सत्व गुण ही इच्छा-काम है, तमोगुण आवरण और रजोगुण विक्षेप। "अहकार" में जो **तीन गुण** हैं वे हैं—**ज्ञान, क्रिया** और **अर्थ**। द्रव्य-अर्थ तमोगुण है, रज क्रिया, तथा सत्त्व ज्ञान। मात्रा में भी इन गुणों का रूप त्रिधा हो जाता है यथा, **प्रज्ञा, प्राण, भूत**। इन तीनों गुणों के परस्पर मिलने से इन मात्राओं से सकल जगत होता है। इन मात्राओं से रूप बनता है। इनके ही योग-अन्वय से प्रसिद्ध **अणु** का निर्माण होता है और यह जो **स्कन्ध** रूप से दिखता है वही यह **जगत** है।

महदादि के अतिरिक्त किञ्चित् भी कहीं कुछ नहीं है। वही यह प्रकृति-महान्, अहंकार, मात्रा-त्रिधा है। जिस त्रैगुण्य प्रकृति को सांख्य दर्शनादि में पृथक् कहा गया है वह पृथक् नहीं है। वह इन तीनों—महान्, अहंकार, मात्रा रूपों में ही उपलब्ध होती है।

पर-अव्यय की शक्ति 'महत्' कही गई है। यह 'महान्' अव्यय से रस प्राप्त कर स्वरूप संसर्ग के कारण द्विविध हो जाता है—एक अक्षर आत्मा और दूसरी उसकी शक्ति अहकृति। यह अक्षरात्मा की 'अहंकृति' नाम की शक्ति अक्षर से रस प्राप्त कर, उससे स्वरूप संसर्ग कर, क्षरात्मा और उसकी शक्ति रूप पृथक उत्पन्न होती है।

इस प्रकार जो अव्यय की शक्ति उदित होती है वह अक्षर है। अक्षर की शक्ति का स्वरूप पृथक् होता है। और उस अक्षर की शवित से भी क्षर होता है तथा फिर क्षर की शक्ति पृथक् होती है।

अव्ययात्मा के एक बल के तीन रूप—प्राण, वाक्, मन होते हैं। इसलिए यह अव्ययात्मा त्रिपुटी, त्रिकोशवान् और त्रिबल कहा जाता है। इसी प्रकार इस महत्—महान् के भी तीन गुण होते हैं। वे हैं—सत्व, रज, तम। इसीलिए यह महान् भी त्रिकोश-त्रिबल कहा जाता है। इस त्रिबल महान् में परमात्मा-अव्ययात्मा के त्रिबल रस के संसर्ग से अक्षर होता है। उसके आत्मरूप षड्बल पृथक

होते हैं । इससे यह अक्षर अष्टादश (१८) खंड वाला कहा जाता है । अक्षर की तरह ही 'अहं कृति' भी षड्बला होती है तथा अपने स्वयं के तीन बलों के कारण यह 'अहंकृति' भी अष्टादश खण्ड वाली होती है ।

अष्टादश खण्ड वाली 'अहंकृति' और अष्टादश खंडवाले अक्षरात्मा के सम्बन्ध से—संयोग से उससे पृथक् क्षरात्मा के ३६ अंश । रूप होते हैं । इन ३६ अंशों और तीन आत्म रूपों से निर्मित यह क्षरात्मा भी अष्टशत (१०८) खंडवाला हो जाता है । इसकी मात्रा–क्षर की शक्ति त्रिमात्राएँ भी तीन आत्म गुणों के कारण १०८ खण्ड वाली हो जाती है । तब जितना क्षर का मितशाली–मात्रायुक्त रस फिर जितनी मिति-मात्रा के साथ संयुक्त होता है—सम्बन्ध करता है उससे जो रूप बनता है वह अणु-स्कन्ध विशिष्ट रूप बाला यह जगत होता है ।

यह 'एकोबहूनाम्'—एक से अनेक होने की–"एकोऽहंबहु स्याम" की प्रक्रिया है ।

विषय क्लिष्ट है । इसको टिप्पणीकार म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने अपनी टिप्पणी में विस्तार से समझाया है जो उपयोगी होने से अक्षरशः अनुदित कर प्रस्तुत किया ज.ता है ।

अव्यय पुरुष पर पुरुष कहा गया है । उसके स्वरूप में मन, प्राण, वाक् नामक तीन अंश अन्तर्भूत हैं और वे विशुद्ध बल सम्बन्ध से ही प्रादुर्भूत हुए हैं । इस प्रकार वे प्रत्येक बल विशिष्ट ही हैं । इसलिए परात्मा-अव्यय पुरुष त्रिपुटीरूप–मन, प्राण, वाक् तीन पुटों से विशिष्ट ही है । वह उन ही तीन कोशों के कारण त्रिकोशवान् है । वाक् प्राण में निविष्ट है, प्राण मन में और मन विशुद्ध परात्पर में । इस प्रकार परस्पर आश्रित रूप से ये कोश भी कहलाते हैं, जैसे तलवार के कोश, अथवा धान्य के कोश । इन तीनों के खण्डत्व की विवक्षा से वह त्रिखंड है । और तीनों में तीन विशुद्धबल सश्रित–मिले हुए हैं अतः वह त्रिबल भी कहा जाता है । इस प्रकार उसके शक्तिभूत महान् में भी सत्व, रज, तम तीनों गुण हैं । इस प्रकार वह त्रिगुण है । ये विभिन्न गुण एक बल रूप ही हैं, इसलिए इनको भी तम रज में, रज सत्त्व में, और सत्त्व विशुद्ध बल में—इस प्रकार आश्रय, आश्रयी भाव से विचार कर कोश रूप मानने पर, 'महान्' भी त्रिकोश ही है । इसका त्रिबलत्व तो स्पष्ट ही है । और मन, प्राण, वाक् समवेत-संयुक्त त्रिबल विशिष्ट त्रिबल के सत्व, रज, तम के कारण त्रिबल महान् से सर्ग-ससर्ग के कारण जो अक्षर का प्रादुर्भाव होता है उसमें पर पुरुष के तीन और महान् के तीन इस प्रकार छः बल आत्मभूत हैं जैसे माता-पिता से पैदा हुए हों । इस प्रकर **अक्षर षड्बल** कहा गया है । उसके स्वरूप में भी मन, प्राण, वाक् प्रविष्ट हैं ही । वे प्रत्येक उक्त रीति से षड्बल रूप से अष्टादश बलों के कारण अष्टादश खण्ड वाला कहा गया है । षड्बल मन में, छै प्राण में, छै वाक् में–इस प्रकार अठारह स्पष्ट हैं । इसी प्रकार उसकी शक्ति अहकृति भी षड्बलों से युक्त षड्बला है । और उसमें भी सत्व में छै, रज में छै और तम में छै—इसी प्रकार वह भी अष्टादश (१८) बल वाली है । इसी से वह भी अष्टादश खण्ड वाली—अष्टादश खंडा भी है !

अष्टादशबला अहं कृति की शक्ति और अष्टादशबल अक्षर पुरुष के संसर्ग से जो क्षर पुरुष प्रादुर्भूत होता है वह माता-पिता से उत्पन्न आत्मभूत छत्तीस (३६) बलों से आत्मवान् होता

है। उसमें भी मन, प्राण, वाक् समवेत–मिले हुए हैं ही। इस प्रकार इन तीनों के प्रत्येक के छत्तीस (३६) अंश के कारण यह क्षर अष्टोत्तरशत (१०८) बल विशिष्ट होता है। इस तरह वह मात्रा नाम की अपनी शक्तियों से अष्टोत्तर शतबल विशिष्टा है। अर्थात् मात्रा नाम की क्षर की शक्तियाँ भी (१०८) अष्टोत्तर बल विशिष्ट हैं। यह इतने बल विशिष्ट क्षर पुरुष इतने ही बलविशिष्टा अपनी शक्ति से सम्बन्ध कर जिस रूप को प्राप्त करता है—जिस रूप होता है वही अणु-स्कन्धरूप से जगत होता है। यहाँ भी क्षर पुरुष से रस ग्रहण किया जाता है, और मात्रा को, बल को धारण करती है। इससे यह पता चलता है कि इन बलों के परस्पर ग्रन्थन से ही स्थूलता का प्रादुर्भाव होता हैं।

उपरोक्त अर्थ के आधार भूत आ० मधु के इस ग्रन्थ में ही अन्यत्र दो निम्न श्लोक हैं—

"षट्त्रिंशदारम्भक कर्मजानि क्षरस्य वाक्प्राणमनांसि सन्ति।
तान्यक्षरे षड्वलितानि तद्वत् परस्य तान्येकबलानि विद्यात्॥
मात्रा प्रवेशात् पृथगात्म शक्त्योः खण्डाः क्षरे त्वष्टशतंभवेयुः।
तथाक्षरोऽष्टादशखण्ड इष्टः परस्त्रिखण्डोऽथ रसत्वखण्डः॥

(श्लोक २७१, २७२–आत्माधिकरण (१५)

सिद्धान्तवाद : आ. मधु



२७. मतभेदाधिकरण

अन्य मतों का खंडन-निराकरण करने से पूर्व आ. मधु स्वमत को बताते हैं। कहते हैं—

आत्मा चतुष्पदी है यथा, परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर। और उसकी शक्ति भी चतुष्पदी है। इनमें प्रथम मूल शक्ति अव्यक्त रूपा है। महदादि शेष तीन उसके अन्य पाद हैं।

रस में बल निश्चित् अव्यक्त है, अन्यथा रस के साथ किसका सम्बन्ध होता है ? व्यक्त क्या होता है ? फिर शक्ति, स्वभाव, प्रकृति—ये सब क्या पैदा होते हैं ? बल एक अव्यक्त माना गया है। रस से युक्त होकर वह तीन रूप होता है। आदि में यह पृथक् नहीं था। यह निर्विशेष रस में प्रसुप्त था।

व्यक्ति और प्रसुप्ति, अहः और रात्रि, सृष्टि और प्रलय, व्यक्ति भी सहस्र दिव्ययुग पर्यन्त और प्रसुप्ति भी सहस्र दिव्य युग पर्यन्त—इन सबके मूल में अव्यक्त प्रागवस्था–पूर्वावस्था है। इसी अव्यक्त में व्यक्ति, इसी में प्रसुप्ति, इसी से सृष्टि, इसी में प्रलय, इसी से उद्भव, इसी से विनाश। यह सब अवश-स्वतः होता है। श्री मद्भगवत् गीता में कहा है :

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ ८/१८ ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ ८/१९ ॥

इस प्रकार अव्यक्त ही इस जगत का बीज-प्रभव, प्रतिष्ठा परायण है। अव्यक्त से ही यह जगत व्यक्त होकर दिखता है। अव्यक्त ही इसकी परागति है।

अव्यक्त रूप अक्षर से ही यह सब होता है और वहीं लय हो जाता है। यही अध्यात्म में क्षेत्रज्ञ-आत्मा-देही होता है और शरीर भेद से इसके ही भेद होते हैं।

इस सम्बन्ध में पहले विद्वत् समाज में तर्क क्रम से तीन **विप्रतिपत्तियाँ** थीं। एक विचार है—बल ही है, रस नहीं; दूसरी है—बल बीज-मूलकारण नहीं है बीज तो रस ही है; और तीसरी यह कि सब रस ही है।

प्रथम विप्रतिपत्ति है कि—अव्यक्त ही व्यक्त होता है इसी से चराचर विश्व प्रतीत होता है। अव्यक्त से पृथक् दूसरा कोई देही और आत्मा नहीं है। यह बुद्ध-सुगत मत है।

दूसरा मत है कपिल का। उनका कहना है कि अव्यक्त से भिन्न एक अन्य पुरुष है जो अक्रिय तथा निर्विकार है। वह आत्मा है। वह जड़ अव्यक्त में स्थित सचेतन हो भोक्ता है परन्तु कर्त्ता नहीं। यह सांख्य मत है। कपिल का कहना है कि यह अव्यक्त एक स्वतन्त्र तत्त्व है। यह सबको उत्पन्न करता है। इसको सृष्टि के लिए असंग आत्मरस की अपेक्षा नहीं है। प्रत्यय और प्रकृति भिन्न-भिन्न पृथक् स्वभाव हैं, जैसे व्याकरण शास्त्र में। जिससे इस विश्व की सत्ता है वह **प्रकृति** है और जिससे यह दिखता है वह **प्रत्यय** है। जगत की कारण सत्ता प्रकृति है और जिससे इसका ज्ञान होता

है वह चेतन पुरुष है। दोनों पृथक् और भिन्न हैं। कपिल मन के अनुसार क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष है जिसकी प्रकृति अव्यक्त रूपा है। वे पर-अव्यय अथवा अक्षर को नहीं देखते/अव्यक्त को ही वे अक्षर कहते हैं।

श्रीमत् भगवत् गीता में दो श्लोक हैं—

"अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वे प्रभवन्त्यहरागमे।"

"अव्यक्तं व्यक्ति मापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परमं भाव मजानन्तो ममभूत महेश्वरः।"

इन दोनों में अव्यक्त शब्द है। इनकी अर्थ संगति रस और बल, ब्रह्म और प्रकृति दोनों के मूलरूप को अव्यक्त मानने पर ही होती है। पर भाव और प्रकृति भाव दोनों जिसमें अव्यक्त रूप से निहित हों ऐसा इनका मूल एक अव्यक्त है— यह मानने पर ही यह विरोधाभास दूर होता है।

कपिल मतावलम्बी क्षेत्रज्ञ से भिन्न पुरुष को नहीं जानते। वे क्षेत्रज्ञ को अकर्त्ता मानकर भी भोक्ता कहते हैं। वे इस अक्षर प्रधान-प्रकृति को ही अव्यक्त बीज कहते हैं और पुरुष को अक्षर।

श्रीकृष्ण द्वैपायन का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि यह कपिलोक्त अव्यक्त प्रधान जगत का मूल बीज नहीं है। जो **सृष्टि का बीज-मूल** है वह **अव्यक्त अक्षर** है। जिसको कपिल ने अव्यक्त कहा है वह उस पुरुष की शक्ति है। और उस शक्ति से अन्य जो पृथक् से अव्यक्त नामक पुरुष जिसे सनातन निर्विकार, निष्क्रिय कहा गया है वह आत्मा है। गीता में उस अव्यक्त को अक्षर कहा है। यथा, "अव्यक्तोऽक्षर उच्यते"— वह नष्ट होते हुए भूतों में भी नष्ट नहीं होता। यथा, "नश्यत्सु न विनश्यति"।

अहं-अहः—ओम् यों ये तीन अवस्थाएँ हैं। जो 'अहं' है वही "अहः" है और वही क्रमशः 'ओं' है। अव्यक्त ॐ ही अक्षर है। ओंकार ही हमारा प्रभव है, प्रतिष्ठा है और यही हमारी अर्थात् जगत की परागति है।

सांख्य दर्शन में जिसे क्षेत्रज्ञ आत्मा कहा है, जो भोक्ता प्रतिक्षेत्र भिन्न है, जो शक्ति विशेष के कारण महत् है—विशेष कहा गया है वह उस महत्—महान से भिन्न है जो जगत का उक्थ-जगत उत्पादक है। वह सांख्य प्रतिपादक क्षेत्रज्ञ आत्मा तो (त्रिपुरुषों में) क्षरात्मा है। वह जगत् का उक्थ-जगत उत्पादक उससे भिन्न है। वह पर—अक्षर है अथवा उस अक्षर को ही अव्यक्त रूप से माना गया है।

ये पर-अव्यय, अक्षर, क्षर त्रिपुरुष जो क्षेत्रज्ञ से भिन्न हैं वे, तथा यह महान्, भूतात्मा, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और शारीरिक आत्मा—ये सब रस ही हैं। यह सब रस का ही प्रपंच-विस्तार है। तथा जिससे यह सारा विश्व व्याप्त है, अथवा जहाँ सारे भूत स्थित हैं वह परमात्मा है। वह अक्षर से भी परे हैं। उससे परे का कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यय और प्रकृति दोनों भिन्न हों फिर भी अनपेक्ष नहीं हैं। यदि प्रत्यय-ज्ञान से सम्बन्ध-योग न हो तो प्रकृति का स्वरूप ही सिद्ध न हो।

कृष्णद्वैपायन आदि, कपिलादि, अथवा सुगत-बुद्ध आदि ने जैसा कहा है उनके तीनों मतों की समीक्षा करके यही निष्कर्ष है कि **कृष्ण द्वैपायनादि का मत ही सत्य है।**

यदि पराव्यय रस प्रदान न करे तो असत्-बल कैसे विधृत-स्थित हो? कैसे व्यक्त हो? मूल सत्ता रस की ही है। अव्यय प्रथम पुरुष हैं जो सबको रस प्रदान करता है। □

२८. प्रकृत्याधिकरण

परमात्मा का शक्ति बल तीन प्रकार का है । इस शक्ति बल का निरूपण चार प्रकार से किया गया है । एक प्रकार का विवेचन सत्व, रज, तम रूप से किया गया है । शेष तीन का निरूपण उत्तरोत्तर क्रम से किया जायगा ।

जिस प्रकार ब्रह्म की ज्योति, प्रतिष्ठा, तथा धृति भेद से तीन प्रकार से व्याख्या की गई है उसी प्रकार कर्म भी **तम, अशनाया, आक्रमण** भेद से तीन प्रकार का, त्रिधा माना गया है ।

जैसे जल में बल त्रिपथानुगामी है—नीचे, तिर्यक्-टेढा और आकाश में ऊंचा, इसी प्रकार जगत में भी बल त्रिपथगामी है । इसीलिए उसको रस कहते हैं । **जल के त्रिपथगामी सादृष्य के कारण मूल तत्व को भी रस कहा गया है ।**

बल अन्तःचर है । इससे रस सृष्टिक्रम से सघन होता जाता है । बल रस का आवरण कर करके—'संवृत्य, संवृत्य' पृथक् पृथक् होता है । इसे ही **आवरण** नामक बल कहा है । यह तमोरूप पहला प्रकार है । **आवरणतम का ही पर्याय है ।** बल के संसर्ग से रस में धनता आती है, जैसे अन्तः प्रविष्ट तरंगों के कारण जल में । **धनता ही रस का आवरण है ।**

बल रस में प्रवाही है । इससे यह जगत प्रवाह रूप प्रतीत होता है । यह अनादि, अनन्त, अकोश, अकाय है । इस बल को **अशनाया बल** कहते हैं । यह प्रवहणशील दृष्य जगत का उत्पादक बल है । यह कोश रूप नहीं है । यह दूसरे बल को अपने में धारण नहीं करता । बल स्वयं दूसरे बल का आधार नहीं बनता ।

बल विवरौपयिक—विस्तृत होने वाला है । फैलता हुआ अन्त में स्वयं रस में नष्ट हो जाता है । इस बल को उत्क्रम कहा गया है । यह उत्क्रमण अथवा **आक्रमण** नामक बल विस्तार का साधनभूत है । यहाँ 'विवरौपयिक' शब्द विचारणीय है । विवर का अर्थ रिक्त स्थान अर्थात् स्थानावरोधी न होना भी है । जो स्थानावरोधी न हो वही विस्तार का साधन हो सकता है ।

यह **उत्क्रम बल तीन तरह का है**—(१) **तम**—अमृत का आवरण, (२) **इच्छा**—अमृत में अशनाया, तथा (३) 'क्रिया—अमृत में चक्रमण । ज्योति के साथ आवरण, प्रतिष्ठा के साथ विरुद्ध गति और भूमा के साथ काम रहता है । अर्थात् जहाँ ज्योति है वहाँ तम है, जहाँ प्रतिष्ठा है वहीं विरूद्ध गति भी है, तथा जहाँ भूमा है वहीं काम भी । ज्योति-तम, प्रतिष्ठा—विरूद्धगति तथा भूमा-काम द्वन्द हैं—सप्रतिपक्ष हैं जो एक दूसरे के विरोधी हैं तथा एक के साथ दूसरा सर्वदा रहता है ।

परात्पर और पराव्यय का भेद इन छै शक्तियों के कारण ही है । परात्पर में ये शक्तियां सुप्त रहती हैं, परन्तु पर (अव्यय) पुरुष में इनका आविर्भाव होता है । यही परात्पर और अव्यय पुरुष में अन्तर है । इन शक्तियों के भी दो विभाग हैं—रसत्रय और बल त्रय । **रसत्रय** को ही **पुरुष** कहते हैं और **बलत्रय** को **प्रकृति** ।

बलत्रय द्वारा उत्पादित सम्पूर्ण अर्थ-पदार्थ मात्र रसत्रय पुरुष में अनुबद्ध हैं। बल से भोग सन्तानरूप-सतत प्रवाही होता है। इसलिए बल प्रकृति है। सांख्यवादी भोगायतन को ही प्रकृति कहते हैं।

कृति अर्थात् क्रिया का जो प्रथम रूप रस में स्थित है वह भाव है। वह आत्मा का 'स्व'—स्वभाव है क्योंकि वह रस रूप के अनुगत ही है। 'प्रथमाकृतिप्रकृति—व्युत्पत्ति के अनुसार यह प्रकृति कहलाती है। □

२९. बलदशाधिकरण

बल मृत्यु है, मरणस्वभाव है। वह एक भाव से कभी स्थिर नहीं रहता। वह क्षण क्षण परिवर्तन करता है इससे जगत की स्थिति विचित्र होती है।

एक एक खंड में विभक्त होने से **बल की ये पाँच** नित्य **दशाऐं** होती हैं—**१. सुप्त, (२) प्रबुद्ध,** (३) आत्मबद्ध. (४) संतानित, (५) निरात्म। इनका कभी अभाव नहीं होता। प्रसुप्त बल रस से भिन्न-पृथक् नहीं होता। रस भी निर्लक्षण होने से अवभासित नहीं होता। प्रसुप्त बल अव्यक्त कहा जाता है। फिर जागने पर वह व्यक्त होता है। शुद्ध रस स्वयं बोधरूप है। वह बोध का विषय नहीं होता। बल भी अव्यक्त होता है, इसलिए उस समय कुछ भी नहीं दीखता। यही प्रलयावस्था है। सांख्य आदि जिसे प्रकृति-प्रधान कहते हैं वह यही शब्द रहित, स्पर्श रहित, अव्यय तथा नित्य, रसगंध वर्जित महत् से परे की ध्रुव स्थिति है। सारा अव्यक्त बल जब प्रबुद्ध होता है उसे महत् कहते हैं। विशेष उद्बोध का कारण बुद्धि है जिसके अंशरूप मानवीय बुद्धि में आस्था करके बौद्ध होते हैं। बौद्ध केवल मात्र बुद्धि को ही मानते हैं। बल का प्रबोध ही बुद्धि कहलाती है। प्रबोध के कारण ही उसका नाम बुद्धि है। इस बुद्धि को ही जो परम–अन्तिम मान कर उससे परम अव्यक्त को, अथवा आत्मा को जो नहीं सोचते, विचारते वे ही बौद्ध कहलाते हैं। बौद्ध अर्थात् बुद्धि के उपासक।

प्रथम बल प्रबोध **कम्प** है। **कम्प से अनेक प्रकार के रूप उदय होते हैं। नोद (प्रेरणा), गति** (देशत्यागरूप), **कम्प** (अवयव की हलचल) तम भी तथा अन्य अनेक प्रकार के बलों का उदय होता है। बल सावयव होता है। **कम्प ही भय-दुःख का कारण है।** काम, तम गति आदि अवस्थाऐं कम्प से ही होती हैं। बल की अन्य अवस्थाऐं भी कम्प से ही होती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक सब तरह की शक्तियाँ (energies) गति-कम्प Motion से ही मानते हैं।

यह सारा बल स्वतन्त्र रूप से अकेला सृष्टि करने में समर्थ नहीं है तथा उस बल की पाँचों अवस्थाऐं भी बिना आश्रय के नहीं हो सकती। आश्रय के बिना बल न स्वयं अपना स्वरूप बना सकता है, न उसकी ये पाँच अवस्थाऐं ही सम्भव हैं। आश्रय बिना कहाँ से 'स्व' का प्रादुर्भाव और कहाँ प्रबोध ! इसलिए आश्रय मानना आवश्यक है। सब प्रकार का बल एकत्र होकर ग्रन्थिरूप होता हुआ अनुगमन करके रस से आत्मन्वी होता है। बल रस में अनुगमन करता है, रस से सत्ता प्राप्त करता है। सारा बल इकट्ठा होकर ग्रन्थि बन जाती है। इससे वह कुछ परिणमन करने योग्य बनता है। रसात्मा का अवलम्बन लेकर वह आत्मन्वी आत्मरूप हो जाता है। यह बल की आत्मबद्धता रूप तीसरी अवस्था है। इसी महद् का विकास अहंकार है।

सारे प्रदेशों से उदित क्रिया रूप आत्मन्विबल आत्मा में एकत्र होकर कर्म और गुणरूप भोग को पैदा करता है। आत्मन्विबल शक्ति रूप होता हुआ आत्मा में क्रम से कर्म और गुणरूपता प्राप्त कर भोग पैदा करता है। बल शक्ति रूप होकर क्रिया रूप होता है। क्रिया ही धारावाहिक होकर—अथवा धारावाहिक क्रिया ही गुण रूप हो जाती है। गुणों से ही आत्मा भोक्ता होता है। रस-बल की एक रूपता है। रस में बल शक्ति, क्रिया से ही सारे गुण, कर्म, भोग होते हैं। यह सब

सृष्टि आधारभूत रस में कुर्वद् रूप बल से ही होती है। सब उसके ही विकाश रूप हैं। यही सर्वबल तब प्रसिद्ध अहंकार होता है।

अक्षर तीन प्रकार से कहा गया है। इससे तन्मात्रा और क्षर होते हैं। यदि **वृत्ति सम्बन्ध के कारण** रस में स्थित बल प्रबुद्ध हो जाय तो वह **महत्** है। वह **बन्ध योग से** रस से अन्वित हो तो वह **मृत्यु** और **विभूति सम्बन्ध से** हो तो वह **अहंकार** है।

ये—योग, बन्ध, विभूति सग्रन्थिक, अग्रन्थिक भेद से दो प्रकार के माने जाते हैं। जब **अग्रन्थिक सम्बन्धों** से बल रस से सम्बन्ध करे तो उससे अक्षर होता है, अन्य रूपों से क्षर।

जो प्रतिक्षण उत्पत्ति विनाश क्रम है उसे कर्म सन्तान कहते हैं। वहाँ वह अक्षर आत्मा में नया संस्कार उत्पन्न करके एक साथ ही नष्ट हो जाता है। यह सन्तान वृत्तिता की व्याख्या है। पहाड़, पेड़, पक्षि, मृग, मनुष्य और जो कुछ भी होते हैं उनके कर्म धारावाही रूप होते हैं। वे सब क्रिया-सन्तान रूप होते हैं। बौद्ध सबको ही क्षणिक तथा सन्तति रूप धारावाही ही मानते हैं। यह जहाँ तक क्षर का सम्बन्ध है ठीक है, परन्तु वे अक्षर को नहीं देखते। बौद्धों का क्षणिक विनाशवाद वैनाशिक नाम से प्रसिद्ध है।

इन अर्थों में एक एक से पृथक् जो धारावाहिक रूप होते हैं वे इस निरंजन रस में आसञ्जन कर्म मूलक हैं अर्थात् उनका मूल आसञ्जन कर्म है।

कर्म में कर्म से छः प्रकार की संस्थाएं पैदा होती हैं। वे हैं—**माया, कला, गुण, विकार, आवरण,** और **असञ्जन**। पहले स्वयं मित—परिच्छिन्न कर्म अमिति की मिति-सीमा बनाता है। जैसे जल का प्रथम रूप तरंग है, इसी प्रकार पर-रस में कर्म का प्रथम रूप **माया** है। मिति ही माया है। और स्थिति—सत् में माया के कारण अनेक भेद हो जाते हैं। इस प्रकार दूसरा रूप भेद **कला** है। कला अवयव का पर्याय है। और सावयवता में संयोग-विभाग आदि **गुण** आते हैं। यह तीसरा रूप है। गुणों के परस्पर परिवर्तन होने पर **विकार** होते हैं। गुण परिवर्तन ही अवस्था परिवर्तन है। और अवस्था परिवर्तन ही विकार है। इस प्रकार विकार चौथा रूप है। विकारों से मूलभूत वस्तु ढक जाती है जैसे रंगे कपड़े में सफेदी। यह पाँचवां रूप **आवरण** है। यह आवरक आवृत्त वस्तु को अपने अपने रूप से दिखाता है। यह छठा रूप **आसञ्जन** है। स्वयं वस्तु में स्थित होकर (आसज्य) अपने-अपने रूप से प्रकाशन ही का नाम आसञ्जन है। यह आसञ्जन बल की अन्तिम अवस्था है। यह एक बल द्वारा दूसरे बल का आसञ्जन है। रस तो उसका आलम्बन मात्र है। परन्तु आलम्बन मात्र से ही रस भी अन्य रूप से दीखता है। अनञ्जन—निरंजन रस में जो समासञ्जन रूप कर्म है उसका मूल ये कर्म की ग्रन्थियाँ ही हैं। जितना भी यह ग्रन्थिबन्धन है सब मिलकर आत्मरूप होते हैं। जब तक कर्मों का ग्रन्थि बन्ध होता है तब तक ही अर्थरूप सृष्टि होती है। ग्रन्थि छेदन होने पर अर्थ भी लीन हो जाता है। ग्रन्थि पर्यन्त ही भोग भी पैदा होते हैं। तब ही कर्मसन्तानजन्य भोग, गुण विकारादि रूप का भोक्ता आत्मा होता है। अन्यथा वह मुक्त ही है। संचर और प्रतिसंचर क्रम से प्रवर्तमान और निवर्तमान वह बल इस रस में स्वयं लीन होता है। यही उसकी कृतार्थता और निरात्मता है। यह बल की पाँचवीं अवस्था है।

इस प्रकार संचर और प्रतिसंचर ग्रन्थियों का ही होता है। ग्रन्थि, फिर ग्रन्थि—यह **संचर,** विपरीत रूप से उलटा चलने पर ग्रन्थि का छूटना–यह विमोक—**प्रति-संचर**। संचर प्रवृत्ति और प्रतिसंचर निवृत्ति है। अन्ततः निवर्त होता हुआ वह कर्म रस में ही लीन हो जाता है। सुप्त अव्यक्त हो जाता है।

अमृत शान्त रस में सुप्त अमृत बल पहले प्रशान्त ही था। पहले इस मृत्यु से आवृत्त रस में जगत बिलकुल नहीं था। श्रुति है—"नैवेह किञ्चनाग्रे आसीत्"। यही प्राथमिक अवस्था थी—प्रलयावस्था–"प्रसुप्तमिव सर्वतः"।

"न किञ्चिदग्रे जगदेतदासीत"–यह जगत के पूर्व की स्थिति थी। इसमें एक-एक पुष्कर (ब्रह्माण्ड) की सृष्टि के लिए कारण रूप बल स्वतन्त्र रूप से कभी जागता है और कभी सोता है। अनन्त ब्रह्माण्डों में सर्वत्र प्रलय हो यह सम्भव नहीं है। भूमा-व्यापक रस में सर्वत्र सुप्ति कभी नहीं होती। पुष्कर का अर्थ यहाँ ब्रह्माण्ड है। पुराणों में भी ब्रह्माण्ड का कर्मत्व रूप से विवेचन मिलता है। श्री भागवत पुराण में कहा है—

"यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम्।
अविद्धदृक् साक्षुभयं तदीक्षते स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः"॥

भूमारस में यह सारा बल सब तरफ से सर्वथा प्रसुप्त नहीं होता और रस में तो नोदना (प्रेरणा नहीं है। इसलिए यदि बल सम्पूर्ण प्रसुप्त हो जाय तो रस में सृष्टि करने वाला बल जगे ही नहीं। दिखता यह है कि एक ब्रह्माण्ड में जाग्रतबलशाली रस से आहत होने पर किसी अन्य ब्रह्माण्ड में रस में प्रबुद्ध बल तीनों लोकों को प्रभावित करता है।

तात्पर्य यह है कि सारे जगत में एक साथ प्रलय नहीं होती। कहीं न कहीं ब्रह्माण्ड में जाग्रति रहती ही है। उससे सुप्त बल फिर जाग्रत होता है। अगर सर्वत्र ही बल सुप्त हो जाय और प्रेरणा ही न रहे तो फिर सुप्त बल कैसे जाग्रत हो?



३०. बलस्वापप्रबोधाधिकरण

बले बलान्यत्र बलान्तराणि पुनर्बलान्यत्र पुनर्बलानि ।
रसे प्रनृत्यन्ति बलानि नानाविधानि तद् विश्वमिदं विभाति ॥
(आ. मधु)

बल में बहुत से बल, अन्तर बल, फिरबल और फिरबल—इस प्रकार रस में नाना प्रकार के बल नाचते हैं—यही यह विश्व है जो दीखता है ।

अनादिकाल से बल अमृत रस में सोया हुआ और नहीं जागा हुआ नाचता है । और सोया हुआ बार-बार जगाया हुआ जागता है और फिर सोता है—लीन होता है, फिर जागरित होता है । बल ही शक्ति है । बल शक्तिधन अमृत रस में सदा स्थित रहता है । रस में बल की सुप्ति दो प्रकार की है १. अघातजा, २. प्रतिघातजा । जिसकी गति एक देश में ही न हो वह बल सुप्ति 'सर्वदिक्' वाली कही गई है । शक्ति इसमें स्थित होने के कारण यह सर्वदा शक्तिमती है । इसीलिए यह शक्ति अघातजा मानी गई है । अभिघात से हो तो किसी एक ही दिशा में हो न कि सब दिशाओं में ।

रस में **अघातजा सुप्ति दो तरह** की होती है—एक **सुप्ति**, दूसरी **महासुप्ति** । जिसकी क्रम से स्वयं ही निवृत्ति हो वह **साद्या** और जिसकी मुक्ति मुमुक्षु के प्रयत्न से हो वह **अन्त्या** । जहाँ पुनर्जागरण न हो वह **महासुप्ति** और जहाँ बल स्वभाव से ही क्रम से निवृत्त हो जाय वह **सुप्ति** ।

महा महोपाध्याय पं. गिरधर शर्मा समझाते हैं कि—कहीं कहीं कुछ कार्योत्पादन रूप जागरण, कहीं कार्य-करण रूप सुप्ति-- यह बल का स्वभाव है । मुक्तात्माओं में सुप्ति बल कभी नहीं जागता । इससे मुक्तात्मा सर्वदा सर्वथा बल विमुक्त होता है । इसीलिए श्रुति. स्मृति में मुक्ति की अनन्यता घोषित की गई है । यह महासुप्ति शास्त्र विहित योग समाधि, निधिध्यासन आदि पुरुष प्रयत्नों से सम्पादित होती है । इसलिए पुरुष प्रयत्न से प्राप्त महासुप्ति भी अप्रतिघातजा ही मानी गई है । इसमें बल की निवृत्ति स्वाभाविक ही है ।

प्रतिघातज सुप्ति भी दो प्रकार की है—सुप्ति तथा **महासुप्ति** । घात–टक्कर देने वाले बल के क्षय होने पर जिसको घात किया जाय वह बल जाग्रत हो उस घात बल–क्षय बल की सुप्ति को **साद्या** कहते हैं ।

प्रेरणा से सब दिशाओं में संचार करते बल परस्पर आघात करते हैं जिससे संघर्ष होता है । संघर्ष होने पर प्रबल बल दुर्बल बल को खा जाता है–अपने में लीन कर लेता है । उदाहरणार्थ– तुल्यबलाश्रित तथा दोनों ओर से आकृष्ट कपडा अथवा रस्सी विरोध के कारण एक ओर नहीं खेंची जासकती । प्रतिघात के दूर होने पर फिर जागरण दीखे तो उसे लय नहीं कहते । दूसरा उदाहरण है—जैसे बड़े पत्थर को हाथ से मारो तो वह नोदना-प्रेरणा-धक्का-आघात पत्थर के बल में विलीन

हो जाता है । तीसरा उदाहरण कांसी के पात्र से किसी के घात से उठी हुई आवाज़ का अंगुली के छूने से बन्द हो जाना । यह प्रतिघात से उत्पन्न महाशक्ति का उदाहरण है । इनमें बल के समाप्त हो जाने पर उसका पुनर्जागरण नहीं होता ।

कहीं दूसरे बल के आघात से भी बल की सुप्ति नहीं होती । नोदना अर्थात् अन्य बल की प्रेरणा से भंग-विश्रंखलित बल का भाग यदि अशनाया बल से पुनः धारणा हो जाय–पूर्ण करलिया जाय, तब प्रतिघात होने पर भी बल की सुप्ति नहीं होती, किन्तु बल अन्यथा अर्थात् अन्य रूप हो जाता है—जैसे, अन्न से मल, मल से खाद और खाद से फिर अन्न तथा भींत पर मारे पत्थर का परावर्तन । अभिमुखगति भींत के प्रतिघात से परावर्तन रूप में, अशनाया बल के कारण, बदल जाती है ।

इसी प्रकार बल का **प्रबोध भी दो तरह का** होता है—**आघातज** (आघात से उत्पन्न) **और घात वियोगज** (आघात के वियोग से उत्पन्न । इन दोनों के उदाहरण लोक में बुद्धि, प्राण, तथा भूत में देखे जाते हैं जैसे, बुद्धि, निद्रा-मूर्छा आदि से मारी जाती है । इनके दूर होने पर ज्ञान होता है । यह हुआ **घातवियोगज प्रबोध** । तथा यदि बीच ही में किसी शब्द-स्पर्ष आदि के आघात से जागरण हो तो यह आघातज प्रबोध है । यही प्रकार-तरीका प्राण का है । पृथ्वी में जलनशील बल सदा सुप्त रहता है । यह सघर्षण से–मथने पर जगता है—प्रकट होता है । यह प्रेरणा से किया हुआ बल का जागरण है । कहा है—"अग्निर्गर्भा हि पृथिवी" ।

मंथन —घर्षण से की गई प्रेरणा क्रिया रूप में परिणत हो जाती है—प्रेरणा तो समाप्त होजाती है, किन्तु अशनाया उस पृथ्वीबल से विस्रस्त अंश को प्रतिघात करना चाहती है—वह क्षति की पूर्ति करना चाहती है । इससे जो प्रेरणा समाप्त होगई थी वह अग्नि को ले आती है अर्थात उसमें स्थित दहनबल प्रबुद्ध हो जाता है ।

न्याय— वैशेषिक शास्त्र में जिसे 'स्थितिस्थापकलक्षण—गुण' कहा है । वह सब निश्चय ही बल है, क्यों कि यह घात वियोग से उद्‌बुद्ध होता है, न कि घातबल के दृढ करने पर । जैसे, किसी पेड़ की टहनी को खीचे तो वह झुकेगी और छोड़ने पर वापस यथा स्थान हो जायगी । यह 'घात-वियोगज उद्बोध है, न कि 'स्थिति स्थापक लक्षण गुण" । वास्तव में ऐसा कोई गुण पदार्थों में नहीं होता, क्योंकि आघात बल को दृढ करने पर अर्थात् अर्से तक अथबा जोर से दबाने पर फिर डाली अपने स्थान पर वापस नहीं जाती ।

आघातज बल प्रबोध का एक ओर उदाहरण है—छत के कड़े से लटका पत्थर । स्थिति और नोदना बलों के कारण पत्थर में क्रिया नहीं होती । बल प्रसुप्त रहते हैं । वहीं हाथ से आहत नोदना बल से इधर उधर जाने वाला बल जग जाता है, पत्थर इधर उधर घूमने लगता है ।

छत के कडे में लटका पत्थर नहीं गिरता, परन्तु कडे से अलग होने पर गिर पडता है । यह 'घातवियोगज जागरा' घात के दूर होने पर पतनशील बल के जागरित होने का उदाहरण है । नोदना–प्रेरणा से उत्पन्न लघुत्व के कारण गुरुत्व की सुप्ति से पदार्श आकाश में जाता है । घात का

क्षय बल को जाग्रत कर भार (गुरुत्व) को जगा कर पत्थर को फिर जगा देता है—उसमें क्रिया उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार गुरुत्व, लघुत्व दोनों बल की सुप्ति और प्रबोध जनित है। दोनों ही आकर्षण जनित बल की ही सुप्ति-प्रबोध है।

बल के दो प्रकार हैं—एक **उद्देश्यबल**, दूसरा **कार्यकालिक बल**। प्रबुद्ध बल भी स्वकार्य-कारक पदार्थ के वियोग होने पर सुप्त सा प्रतीत होता है, परन्तु उस पदार्थ के पास होने पर वह प्रबुद्ध प्रतीत होता है। जो पहला बल सुप्त सा प्रतीत होता है वह **उद्देश बल** है और दूसरा जो प्रबुद्ध होता है वह **कार्यकालिक** है। इस प्रकार बल के प्रबुद्ध होने पर भी बल की प्रसुप्ति होती है और फिर वह प्रबुद्ध-प्रसुप्त बल ही जाग्रत होता है।

उक्त दोनों बलों के उदाहरण अग्नि में मिलते हैं। अग्नि में प्रबुद्ध-जलाने वाला बल **उद्देश रूप** से सर्वदा ही स्थित होकर भी सुप्त रहता है। वहीं जलाने की वस्तु के समीप होने पर वह प्रबुद्ध हो जाता है, जलाता है। यह **कार्यकालिक बल** है।

दूसरा उदाहरण है—मंच में पतनानुग (गिरने वाला) बल जिस मंच रूप बल से प्रसुप्त कर दिया जाता है वह नित्य उद्‌बुद्ध होने पर भी उस समय तक प्रसुप्त सा रहता है जब तक मंच में पतन विरोधी अर्थात् विधारक बल है।

इस अध्याय में **बल** (motion) की व्याख्या सूक्ष्म और कठिन है। 

३१. अशनायाधिकरण

अशनाया आत्मा में पहला प्रबुद्ध बल है। यह सर्वदा महान है। आत्मा में संयुक्त हो—आत्मन्वी हो सर्वदा रहता है। तथा अनेक रूप होता हुआ **इच्छा, आवरण, विकार** भेद से त्रिधा होता है।

आत्म रस मूल तत्त्व है। उसमें ही अशनाया बल सर्व प्रथम प्रबुद्ध होता । इस सम्बन्ध में श्रुति है—

"नैवेह किञ्चनाग्र आसीद्, मृत्युनैवेदमावृत्तमासीत् अशनायया। अशनाया हि मृत्यु;। तन्मनोऽकुरुत आतन्वी स्याम्"—इति।

यहाँ मृत्यु का अर्थ बल है। इसी प्रथम बल को श्रुति (बृ० उ० ब्रा० २) में अशनाया कहा है।

इच्छा, अशनाया, तृषा, काम—ये समानार्थक हैं। अन्न-अर्थिनी-वृत्ति अशनाया है। अन्य से अपनी आत्मा में अन्नाकर्षण अशनाया है। यह वैज्ञानिक परिभाषा है परन्तु यह पाणिनी द्वारा दिये गये शब्दार्थ बुभुक्षा, पिपासा, गर्धा के विरूद्ध नहीं है, क्यों कि जो अन्य से स्वात्मा में खींचा जाय वही अपना अन्न होता है।

अशनाया को ही काम कहा गया है। भूमा रस को कं कहते हैं। सुख को भी कम् कहा गया है। कं की गति अन्न से परे नहीं है। अन्नार्थ गति अम: है। यह काम है।

काम की व्युत्पत्ति है—"कस्य अम:"। 'अम:' का अर्थ गति है। आनन्द रूप होने के कारण आत्म को 'क' कहा जाता है। 'कं'–सुख–आत्मा की गति ही काम है। आत्मा की गति अन्नार्थ ही होती है इसलिए अन्न को भी 'कं' कहते हैं। अन्न के अतिरिक्त अन्य जगह सुख नहीं मिलता।

इड् अन्न को कहते हैं। जो अन्न में, अन्न के लिए प्रवृत्त होती है वह वृत्ति इच्छा है, वही परकर्षण है। यह दूसरे को खींच-खींच कर उसको आत्मसात् करके आत्म रूप बना देती है।

यजुर्वेद का मत्र है—'इषं त्वा उर्जेत्वा'। इसमें इष् शब्द अन्न और उर्जा वाचक है। इष् ग्रहण करने की प्रवृत्ति को ही इच्छा कहते हैं।

जो पूर्ण अमृत था वह अन्य क्रम योग से अल्पवत् होजाता है। इसकी इस अपूर्ण दशा को हटाने के लिए—इसकी अपूर्णता दूर करने के लिए वहां अशनाया होती है। अल्पक्रमयोग का अर्थ है कर्म की अल्पपरिणामता। इससे रस भी परिछिन्न–अल्प होगया। अंश सर्वदा अंशी को ही प्राप्त करने की इच्छा करता है और जो वह अपूर्ण स्थान–देश वाले अर्थात् परिछिन्न 'स्व' को ही खाता है—आत्मसात करता है वह उसका अन्न, अशन, अथवा अश: है। उस अश्–अन्न को अशनाया लाती है। जो अन्न को प्राप्त कराती है वह अशनाया है।

'अशं नयति' इति अशनाया और 'अशनं अयते'—अभिमुखी करती है वह अशनाया। यह अशनाया शब्द की व्युत्पत्ति है। उस अन्न को (अशम्) लाकर और उससे शून्य हुए अपने ही अंश को फिर खाता है उसको ही 'अश्नाति' कहा गया है। यहां शून्य की पूर्ति कर अपने अंग को भरता है—अपने अंग-शरीर-स्वरूप की पूर्ति करता है।

'अश् का अर्थ भोजन और व्याप्ति दोनों होते हैं। 'अश्नाति' और 'अश्नुते' दोनों का एक ही अभिप्राय है। केवल व्यवहार का—प्रयोग का भेद है।

जो अन्न अत्ता के भीतर प्रवेश कर जाय तब वह अत्ता ही होजाता है। तब उसे अन्न नहीं कहते। जब आत्मा द्वारा वह अन्न धारण कर लिया जाता है तब उससे अभेद होने के कारण आत्मा ही होजाता है। जो अपने आत्मा के अनुकूल—आत्म सम्मित अन्न खाता है, वह अन्न आत्मा की पूर्ण रूप से रक्षा करता है और यदि अन्न कनीय—अल्प हो तो पर्याप्त रूप से रक्षा नहीं करता।

आत्माऐं अठारह हैं। उनके अन्न भी भिन्न हैं। आत्मा के अनुरूप अन्न हो तो वह सम्पूर्ण आत्मा की रक्षा करता है। अधिक हो तो हानि करता है। अल्प हो तो पर्याप्त रक्षा नहीं करता। अथवा जैसे सब अपने अन्न को बाहर भी करते हैं (पराक् कुरुते)। ये दोनों एक हैं। जो निराक्रिया है वह आकर्षण का रूपान्तर ही है।

आकर्षण-विकर्षण दोनों एक ही क्रिया के परिणाम हैं। आकृष्टि आकर्षण-आत्मसात करना और निराक्रिया—परित्याग - विकर्षण दोनों ही अशनाया बल ही हैं।

अशनाया के पांच अवयव-भाग हैं। वे हैं—**अन्नबुद्धि, अभिमान, इच्छा, कर्तव्यता,** और **तज्जन्य क्रिया।** ज्योति से लेकर धृति पर्यन्त सब अशनाया ही है। वही प्रवर्त होती है। आत्मा की ज्योति फैल कर आगे अशन-अन्न के अभिमुख जाता है वह उसकी अभिवृद्धि है। फिर वह अन्न को तद्रूपतया अभिव्याप्त कर लेती है यह है अभिमान। अन्नाभिमान अर्थात् उसका स्वरूपतया मनन। इससे आत्म से विस्रस्त-विस्तृत-पृथक् हुए विभाग की पूर्ति के लिए जो बुद्धि होती है वही इच्छा है और जो प्रयत्न है वह कर्तव्यता है और उसकी अपने उदर में सक्ति (आत्मसात होना) क्रिया है। इससे यह अन्न आत्म रूप होजाता है। यही अन्न का असञ्जन है। अन्न आत्मरूप-भोक्ता अत्तारूप होजाता है। इसे matter का energy में convert होना कह सकते हैं।

आत्मा की यह अशनाया दो प्रकार की होती है—अन्यभुक्त और अन्यभोक्ता। जो कहीं अन्य से भुक्त हो वह कलाक्षीण आत्मा दरिद्र कहलाता है। वह अशनाया वश अपनी हीन कला की पूर्त्ति ही करता है। उसकी वृद्धि नहीं होती और जब वह अधिक अन्न ग्रहण करता है तब फिर समय पर वृद्धि प्राप्त करता है। यह अन्य भुक्त अशनाया का स्वरूप है। और अन्य भोक्ता अशनाया के कारण क्रमश: बढता हुआ फिर महान् और फिर महान् होता है। यहाँ सर्वत्र 'आत्म' शब्द से बल विशिष्ट रस ही से अभिप्राय है—यह लगता है।

इसमें रस का समत्व है और बल की विषमता। जो-जो वैषम्य बल से आता है वही-वही फिर रस से समत्व प्राप्त करता है। समत्व आत्मा का है और विषमता बल की, वृत्ति की। विरिक्त-रिक्त-शून्य को अतिरिक्त अन्न से भरते हुए उसका उद्धार करना ही समीक्रिया-समता प्राप्त करने की क्रिया है। विरिक्त का अर्थ शून्यभूत है। समुद्धरन समीक्रिया समत्व-सम्पादन है।

बल के-मृत्यु के मरणस्वभाव होने से और दूसरे के द्वारा उसका आहरण होने से रिक्तता-शून्य-Vaccume होता है। अपने भाग के कम होने पर, समीक्रियार्थ और अपने अंश प्रदान के कारण विरिक्त-खाली होता है।

जितना रस के आवरण से आत्मरूपता होती है उतना ही बल का आयतन नियमित होता है। यदि आयतन में खालीपन-रिक्तता हो तो अशनाया समता के लिए 'इट्'-अन्न प्राप्त कराती है। इससे ही रिक्तता पूर्ति और अभिवृद्धि होती है। वृक्षादि-मनुष्यादि की वृद्धि भी अशनाया द्वारा प्राप्त अन्न से ही होती है।

सब आयतनों में विरिक्तता-अल्पता खालीपन और अतिरिक्तता-आधिक्य की निश्चित् सीमा होती है। विरेक और अतिरेक, अथवा रिक्तता और आधिक्य की सीमा का उल्लंघन करके तो अर्थ का विनाश ही होजाता है।

सीमा से अधिक न्यूनता या आधिक्य की सीमा का उल्लंघन होने पर वस्तु का रूपान्तर ही होजाता है। इससे सब चराचर वस्तुओं का सन्निवेश नियत है। वृद्धि या अणुरूपता अनियत नहीं है।

उपरोक्त सब ही क्रियाएें दो प्रकार की होती हैं— एक **अन्तर्यमन रूप** और दूसरी **उपांशु**। जो दूसरे के द्वारा बल पूर्वक किये हुए रिक्त अंश की स्वयं ही पूर्ति करता है वह **'अन्तरयमन'** नामक समीकरण है। और जिस समीक्रिया से अपने अतिरिक्त अंश (स्व) से दूसरे के रिक्त (स्व) की पूर्ति की जाती है उसे **उपांशु समीक्रिया** कहते हैं।

उपांशु और अन्तर्यमन दोनों सर्वदा ही बिना किसी अपवाद के प्रत्येक अर्थ (पदार्थ) में है। और इसलिए उत्सृजन करते हुए भी अनुक्षण एक दूसरे से अर्थ हरण करते हैं। उपांशु और अन्तर्यमन दोनों ही अशनाया के रूप हैं और ये सब ही दृष्यमान अदृष्यमान पदार्थों में सर्वदा निरपवाद रूप से, नियतरूप से रहते हैं। इसलिए दूसरे से कुछ लेना, अपने में स्थित अधिक धर्म का दूसरे को देना-इस प्रकार दान-प्रतिदान सदा सर्वदा व्याप्त है। उदाहरण स्वरूप—सूर्य सब तरह से अप् और सब के प्राण का हरण करता है। साथ ही यह अखिल विश्व को सर्वदा अप् और प्राण का निवेशन करता है। कहा है—"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः"। सूर्य सब का प्राण रूप है। प्राण शक्ति बल विधारक है। सूर्य सर्वत्र ही प्राण देता है। यथा-"निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च"।

चराचर प्राणि शरीर में रहने वाले देव, भूत, और बुद्धियाँ सर्वतः क्षीण होते हैं, अन्य स्थान पर संसरण करते हैं और सतत प्रतिक्षण समत्व प्रदान करते हैं।

चराचर के शरीर में स्थित इन्द्रियाँ (देव), भूत, बुद्धि सब सूर्यांश हैं। ये मृत रूप हैं। साथ ही अमृत निरंतर प्रतिक्षण इनको समता–जीवन रस देता है। इसी से सर्वत्र परिवर्तन अवश्य होता है, परन्तु बौद्धमत में जैसा माना है, निरन्वयता–विनाश कभी नहीं होता। यह आदान-प्रदान चलता रहता है। यथा, "निवेषयन्नमृतं मृत्युं च"। इस प्रकार उपांशु और अन्तर्यमन ये दोनों प्रति आत्म आते जाते रहते हैं झूले की तरह। यह अशनाया के किये होता है। अशनाया स्वयं में और दूसरे में अन्न (अश्) को ले जाती है। यह अन्न का आदान-प्रदान अशनाया द्वारा होता है।

उपांशु और अन्तर्यमन जो अशनाया के ही भेद हैं अर्थ भेद से दो प्रकार से काम करते हैं। कहीं दोनों अलग-अलग काम करते हैं, जैसे सूर्य एक से लेकर दूसरे को देता है, तो कहीं एक ही में दोनों काम होते हैं जैसे अग्नि शिखा या स्फुलिंग। अग्नि स्वयं ही स्वयं को आत्मसात करता है और अन्यत्र प्रकाश देखा है। सृष्टि के आदि में तो एक ही तत्त्व था अतः न वहाँ आदान था, न प्रदान। वहाँ वह स्वयं ही स्वयं से लेता है और स्वयं ही स्वयं को देता है। यही श्रुति-पुराण वर्णित पुरुष का अपने ही अवयवों से यज्ञ है। कहा है—"यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवाः"। यही प्राण, अपान, उदान, और व्यान हैं। प्राणन् वृत्ति और अपान वृत्ति पृथक्-पृथक् बल हैं। यदि आदान, प्रदान दो माने जाये तो उनको प्राण और अपान कहते हैं। और यदि एक ही में हो तो प्राण और उदान। प्राणन् आदान है और अपानद् प्रदान। दोनों का ही आयतन-आश्रय व्यान है।

व्यान यदि अणु हो–अल्प हो तो रिक्तता और यदि महत्-अतिबल हो तो अतिरिक्तता होती है। ये व्यान के विशेष भेद हैं। सब, कुछ कम अथवा कुछ अधिक, अन्न को खाते हैं अर्थात् आत्मसात करते हैं। इससे ही अल्पत्व, आधिक्य सिद्ध होता है। इसके अनुसार ही प्राणन्-अपानन् की वृत्ति अर्थात् आदान-प्रदान होता है।

यहाँ जो इन दोनों का आयतन कहा गया है वह रस के आवरण बिना नहीं होता। इसलिये आत्मा में जो तम-अन्धकार है वह निश्चय ही सदा अशनाया होती है। तात्पर्य यह है कि अशनाया के अनुरूप ही आत्मा में तम होता है जो आत्मा का आवरक है।

जैसे, आत्मा छोटी हो या बड़ी, उसके प्राण शरीर में स्थित व्यान में प्राणन्वृत्ति सूर्य का बल है, उसी तरह अपानवृत्ति पृथ्वी बल है। जो सौर बल प्राणन्वृत्ति है वही फिर व्यान को प्राप्त हो उदानवृत्ति से फिर ऊर्ध्वगामी होता है। कीड़े, पशु, मानव आदि प्राणियों में जो सिर ऊपर को होता है वह प्राणकृत माना जाता है। प्राणियों का शरीर ऊपर नहीं खींचा जाता इसका कारण अपान कर्म है। यदि प्राण न हो तो सिर भूमि से उठा हुआ न हो और यदि अपान न हो तो शरीर सूर्य की ओर उठा हुआ हो।

प्राणियों के शरीर में प्राण, अपान, व्यान आदि कोश माने गये हैं। हृदय में प्राण, गुदा में अपान, समान नाभि मण्डल में तथा व्यान का स्थान कंठ में होना कहा गया है। व्यान सारे शरीर में व्याप्त होता है। कहा है—"हृदि प्राणा गुदेऽपानः समानो नाभिमंडले। उदानः कण्ठदेशे स्यात् व्यानः सर्वशरीरगः"। (अमरकोश)

पृथ्वी, जिसका स्वरूप अपने व्यान से निबद्ध होता है, वर्ष में कभी सूर्य द्वारा पास खींची जाती है और कभी दूर हो जाती है। यह प्राण-अपान की अपेक्षा से होता है। यदि प्राण न हो तो पृथ्वी का सूर्य से सम्बन्ध न रहने से कहीं की कहीं चली जाय और यदि अपान न हो तो पृथ्वी क्षण में गिर कर लय हो जाय।

तात्पर्य यह कि प्राणियों की भाँति पृथ्वी में भी प्राण, अपान आदि वृत्तियाँ होती हैं। पृथ्वी के भी व्यान है जो पृथ्वी का आयतन—उसकी सीमा बनाता है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इसे Orbit समझा जा सकता है। इस व्यान नामक प्राण से पृथ्वी स्थिति है। यह बात अन्वय और व्यतिरेक दोनों तरह से सिद्ध है।

पृथ्वी की भाँति सूर्य भी व्याननिरूढविग्रह है अर्थात् सूर्य का स्वरूप भी व्यान से ही निर्धारित है। यह सूर्य भी प्राण ही से सब ओर से सोम लेता है, अपान से प्रतिक्षण अग्नि प्रसारित करता है। सूर्य प्राणन् (आदान) और अपानन् (प्रदान) के रूप में सदा तपता है। यदि प्राण न हो तो सूर्य इन्धन रहित होकर शीघ्र ही समाप्त हो जाय और यदि अपान न हो तो सूर्य बढा हुआ होने पर भी घर्षण रहित होकर अग्नि पैदा न करे। शब्द 'जनयेत्' और generate का साम्य दृष्टव्य है।

उदान वृत्ति भी प्राण और अपान के साथ ही साधारण रूप से होती है। जो आती है उसे प्राणन् कहते हैं और फिर जो लौटकर जाती है वह उदान है। अपान वृत्ति का जो उदान-उलटकर आना है उसको ही समान कहा गया है। जो प्राणन् है वही अपानन् है। जो एक दृष्टि से प्राण-उदान है वही दूसरे प्रकार से अपान-समान का युग्म है। अन्तरस्थित व्यान शक्ति प्रदान करता है। ये भिन्न-भिन्न शब्द समझाने के लिए–प्रतिपत्ति हेतु हैं। वास्तव में तो ये पाँचों सर्वत्र बल के ही रूप हैं।

जिस अशनाया के आश्रय से उपांशु और अन्तर्यमन होते हैं उसी से यह बल-पंचक भी होता है। इसी से सब अन्न का आकर्षण करते हैं और सबही दूसरों को अन्न देते हैं। इसी से सबकी पुष्टि-कृशता, दान-प्रदान, और फिर अल्पता-आधिक्य होते हैं। अशनाया–इच्छा द्विधा है–कृश के आयतन की पूर्ति के लिए और पुष्ट के आयतन वृद्धि के लिए, इच्छा रस ग्रहण करने के लिए और तप और श्रम अन्य बल को ग्रहण करने के लिये।

अशनाया दो प्रकार की होती है—एक दूसरों का आकर्षण अथवा चिरकाल तक एक वृत्ति, इच्छा, तप, श्रम ये तीनों ही बल क्षणिक हैं। ये तप और श्रम से चिरकाल तक अनुवर्तन करते हैं। "वह इच्छा करता है, श्रम करता है, तप करता है" यह कहा गया है। अर्थात् इच्छा, श्रम और तप से क्रिया–यज्ञ का प्रवर्तन होता है। यज्ञ तीन अक्षर अर्थात् ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु रूप से व्यक्त होता है। इस अक्षरत्रय से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण प्रजा यज्ञ के साथ ही सृजित होती है, जैसा कि कहा है—"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" (गीता) जो भी सृजित होता है सब यज्ञ से ही होता है।

दान, अदान, प्राण, अपान, उदान, समान के कारण भूत ये इच्छा, तप, श्रम रूप बल-त्रय यज्ञ कहे जाते हैं और यह यज्ञ अक्षर के कारण होता है। अक्षर की तीन केन्द्रीय कलाएं हैं। इनमें विष्णु उपादान रूप है, इन्द्र 'परत्रार्पण' का कारण है और स्थिति है ब्रह्मा के कारण। इस प्रकार सर्वत्र अक्षर का ही विस्तार है। अक्षर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

उपरोक्त विवेचन श्री मद् भगवत् गीता के अध्याय ३ के श्लोक १४-१५-१६ के अनुवाद स्वरूप ही है। यथा, यज्ञ क्रिया से होता है—"यज्ञकर्मसमुद्भवम्"। और क्रिया ब्रह्म से होती है—"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि"। ब्रह्म अर्थात् क्षर पुरुष अक्षर से उत्पन्न होता है—"ब्रह्माक्षर समुद्भवम्"। क्रिया साक्षात् क्षर पुरुष से उद्भूत होती है। अक्षर ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। यह चक्र ही यज्ञ है। गीता के अनुसार इसके परिचालन में मनुष्य को अवश्य ही योगदान करना चाहिए।

यज्ञ अखिल प्रजा का सृजन करता है। जो भी सृजन किया जाता है यज्ञ से सृजा जाता है। ज्यों-ज्यों यह यज्ञ सब ओर से उदित होता है वैसे-वैसे ही अक्षर में कर्म विशेष रूप से दिखाई देते हैं।

सद्—अक्षर और उसका जो सत्त्व है उसका अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। यहाँ इच्छाशक्ति ही सत्त्व माना गया है। सद् उसके साथ होकर ही भूमा होता है अर्थात् बल युक्त सद् भूमा है। सद् अक्षर को कहा है। यथा, "सदेव सौम्येदमग्रमासीत्"। सत्त्व ही बल है। उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। बल विशिष्ट रस ही भूमा, सद् है। यथा,

"सदक्षरं तस्य यदस्ति सत्त्वं तदेतदुक्तं विविधैः प्रकारैः।
इच्छैव शक्तिर्मतमत्र सत्त्वं तयाभवत्सद् भवतीह भूमा॥
(आ० मधु)



३२. विक्षेपाधिकरण

विक्षेप ही उत्क्रमण, विक्रम, अक्रम, लय, क्षण, कर्म, विक्रिया, क्रिया, तथा विस्रसन, उच्छित्ति, विनाश, निर्गमागति है । ये सब शब्द समानार्थक हैं ।

पूर्व में यह कहा गया है कि बल, शक्ति, क्रिया एकार्थक हैं । प्रस्तुप्तावस्था बल, कुर्वद् रूप अवस्था शक्ति तथा परिवर्तित-परिणमन करती हुई अवस्था क्रिया है । बल की शक्ति रूपता कैसे होती है यह अशनायाधिकरण में बताया गया है । अशनाया मुख्य मूल बल है । वह विभिन्न शक्तिरूप कैसे-कैसे दिखाई देता है और उसके क्या-क्या कर्म हैं यह उस अधिकरण में दिखाया गया है । और शक्ति क्रिया रूप में कैसे परिणत होती है इसका निरूपण इस अधिकरण में किया गया है ।

पूर्व में महत् नामक शक्ति के तीन गुण कहे गये हैं—सत्त्व, रज, और तम । इनका स्वरूप इच्छा, विक्षेप, आवरण है । सत्वरूपा इच्छा शक्ति अशनाया है । विक्षेप शक्ति रजोरूपा है । सब क्रियाऐं रज के ही बदले हुए रूप हैं । सांख्य तथा वैशेषिक दर्शनों में इसका विवेचन बहुत विस्तार से किया गया है । आचार्य मधु ने उन सबको अपनी युक्तियों से परिष्कृत करके तथा उपनिषद् वाक्यों से उनका समन्वय कर अच्छी प्रकार से उपनिबद्ध किया है जो जगतउत्पत्तिक्रम को जानने के लिए अत्यन्त उपादेय है ।

बिक्षेप वृत्ति जड़, चेतन, दोनों में रहती है । उससे पांचों प्राणों का उद्‌भव हुआ है । यह पाँचों प्राणों की निमित्त भूत विक्षेप वृत्ति जड़, भूत, तथा चेतन में समान रूप से रहती है ।

यह कर्मयोनि—कर्म का कारण भूत विक्षेपवृत्ति विशेषरूप से चेतन जीवों में पांच प्रकार की है—धृति, श्रद्धा, सुख अशनाया, ज्ञान अशनाया, और अर्थ अशनाया । इनकी व्याख्या निम्न है—

(१) धृति—धृति बिना कहीं बल नहीं मिलता ।

धृति बिना बल से सम्बन्ध नहीं होता । धृति बिना बल प्रयोग हो ही नहीं सकता/निश्चय ही धृति विक्षेप-योनि है ।

धृति का अर्थ बल का धारण करना है । क्षणिक और अत्यल्प प्रदेशव्यापी बल इसमें धारण किया गया होने पर ही प्रवाह रूप से स्थिर होता है । यदि रस में धृत न हो तो क्षणिक बल का स्वरूप ही प्रतीत न हो । धृति से ही उसका ज्ञान होता है । धृति ही योग है । यही कर्म का कारण-योनि है ।

अधृत वस्तु में कर्म की कल्पना नहीं की जा सकती । धृति के कारण ही प्राणायाम से निश्चल होकर परमात्मा से जो आत्म-बल चाहता है वही जीव को मिलता है ।

जो आत्मा की विधृति है उसे ही धृति के अर्थ में निष्ठा कहा गया है । निष्ठावान के ही श्रद्धा होती है । निष्ठा नाम से कही जाने वाले धृति ही श्रद्धा का कारण है ।

(२) **श्रद्धा**—जीव क्षेत्रज्ञ नामक पुरुष है। वह चान्द्रीषोडशी कहा गया है। उसको प्रज्ञामय होने से प्राज्ञ कहा गया है और यह प्रज्ञा चान्द्री है। यदि यह प्रज्ञा सत्य के साथ अन्यगता-अन्य विषयिणी हो तो वह श्रद्धा कहलाती है चूंकि परमात्मा में निहित श्रद्धा द्रवात्मा—द्रवरूप है अतः उससे अप् उत्पन्न होते हैं। जो सत्य-सत् है वही अन्तरयामी अक्षर है। वही विक्षेपबल की योनि है। यह पुरुष-क्षेत्रज्ञजीव श्रद्धामय है। जिसमें जिसकी श्रद्धा होती है वह उसका आत्मा होता है श्रत् को सत्य कहा गया है। सत्य ही अन्तरयामी अक्षर है। अपने सत्य–अन्तर्यामी को परमात्मा में धारण करने–अर्पण करने पर वही आत्मसत्य हो जाता है।

भगवान् ने गीता में कहा है—"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः"।

यदि श्रद्धावश आत्म सत्य और परम सत्य दोनों एकीभूत हो जायं तो बुद्धि उसकी ही अनुगामिनि हो जाती है। यह विज्ञान रस का प्रसाद है।

जब अपना अन्तर्याम नामक स्व अर्थात् जीव परमात्मा-अक्षर में अपनी स्वार्थगता-मति को अर्पित करता है तब सत्य विज्ञान का उदय होता है। जहाँ इस अन्तर्यामी अक्षर परमात्मा में अपना अन्तरयामी जीव धृत हो तब अपने और परमात्मा के सूत्र तारतम्य से कृति-साध्यता होती है। तात्पर्य यह है कि जहाँ अर्थ के अन्तरयामी से निज अन्तरयामी का धृति रूप सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ विक्षेप बल काम नहीं करता।

नैयायिक कहते हैं कि प्रवृत्ति में द्रष्टसाधनज्ञान ओर कृतिसाधनज्ञान कारण होते हैं। आ० मधु कहते हैं कि ये दोनों ही साधनज्ञान कृतिजन्य धृति से होते हैं।

(३) **सुख अशनाया**—सुखेच्छा, सुख अशनाया ही कर्म-योनि है। निश्चय ही यह चेतन जीव सुखानुबन्ध से कर्म में प्रवृत्त होता है। सब लोग सुख न देखें तो कभी कुछ न करें। उपरोक्त कृति का कारण भी सुख ही है। कर्म करके सुख प्राप्त करना चाहता है, अथवा जिसको करते हुए सुखानुभूति होती है, अथवा जो क्रिया और जो धृति सुख देने वाली हो, यदि श्रद्धा सुखदा हो, तो कर्म करने का बल प्राप्त होता है।

कर्म द्विविध होते हैं, कुछ ज्ञान सिद्धि के लिये, कुछ अर्थ सिद्धि के लिए। दोनों ही प्रकार से सुख की उपलब्धि और परमार्थ सिद्धि होती है। कर्म की अर्थवत्ता ज्ञान और धनादि में है।

ज्ञान और अर्थ दोनों ही प्राणियों के इष्ट हैं। दोनों ही तरह से इष्ट की प्राप्ति से सुख होता है। वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा–एषणात्रय इसी के अन्तर्गत हैं। ये सब सुख के लिए ही हैं। ये सब सुख अशनाया किंवा सुखैषणा के ही अन्तर्भूत हैं।

"धृत्यादि चेतनमात्र निष्ठ है" यह कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि धृति दूसरों में नहीं होती। धृति, श्रद्धा आदि जड़ों में—जड पदार्थों में भी समान रूप से होती है किन्तु इन्द्रियादि के अभाव के कारण उनकी प्रतीति नहीं होती। यह वैदिक सिद्धान्त है। महर्षि चरक ने भी यही माना है कि चेतन द्रव्य सेन्द्रिय है और अचेतन निरिन्द्रिय।

सत्य सर्वत्र सम है। श्रद्धा और धृति सत्यकृत हैं। संप्रीति और बिद्वेष दोनों के अनुसार अथवा अपसार के कारण प्रसिद्ध हैं। अनुसार अर्थात् परस्पर अनुसरण रूप सम्बन्ध और अपसार अर्थात् अनुसरण हीन सम्बन्ध-विपरीत सम्बन्ध-विद्वेष।

धृति, श्रद्धा, अशनाया जड एवं चेतन में समान रूप से होना प्रतिपादित किया गया है। सत्य जिसे अन्तरयामी रूप कहा गया है चैतन्य होने से सर्वव्यापी है—सर्वत्र व्याप्त है। उसी से कृति आदि क्रम से उत्पादित निष्ठा—धृति आदि हैं। श्रद्धा भी उसही सत्य से उत्पन्न होती है। इनका परस्पर अनुसरण रूप सम्बन्ध हो वह प्रीति कही जाती है और जहाँ विपरीत सम्बन्ध हो वह द्वेष। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रीति, द्वेष भी जड और चेतन में समान रूप से विद्यमान हैं।

तात्पर्य यह है कि जड-चेतन में कोई पार्थक्य नहीं है। दोनों ही विकास की अवस्थाएँ हैं। चित् सर्वत्र व्याप्त है। ज्ञान सब में अनुस्यूत है। अन्तर प्रज्ञान का है। जड में मन की क्रिया का विकास नहीं होता—उनमें इन्द्रियाँ नहीं होती और सारा कार्य जड-चेतन में समान रूप से साधारण है। चित् के साथ अबाध सम्बन्ध, अन्वय होने के कारण ज्ञान और अन्न भोग के लिए परस्पर सम्बन्ध सबमें समान है। प्रज्ञान (मन) के कर्म को छोड़कर सारे ही कर्म में समान रूप से देखे जाते हैं। मनसहकृत इन्द्रियों के कर्मों के अतिरिक्त सब ही कर्म जड और चेतन में साधारण रूप से अन्वित हैं। यह विषय वेदान्त (ब्रह्म) सूत्र के 'विलक्षणत्वाधिकरण' में स्पष्ट निरूपित किया गया है।

विक्षेप बल पाँच तरह का है—(१) प्रणोद, (२) गति, (३) वेग, (४) वृत्तियाँ, और भाव। ये क्षणिक बल-क्रियाएँ महद् में होती हैं। इन क्षणिक बलों से जिनका स्वरूप बनता है वे सब क्रियाएँ अनेक प्रकार से इनसे ही उदित होती हैं।

महत् बलप्रधान पहला रूप है। सारे क्षणिक बल उसके ही आश्रित हैं। उक्त पाँचों प्रकार के विक्षेपबल महत् में ही उत्पन्न होते हैं और इनसे अनेक क्षणिक क्रियाएँ।

उक्त पाँच प्रकार के विक्षेपबल में प्रथम है—१. **प्रणोद**। इसेनोदना भी कहते हैं। यह संस्कार ही है। अपने सम्बन्ध से अन्य स्थान में बल का समर्पण-उपधान ही प्रणोद-नोदना है। यह पाँच प्रकार का है—(१) घात के कारण, (२) अनाघातयुति के कारण, (३) अदृष्ट के कारण, (४) पूर्व कर्म के कारण और (५) अर्थान्तर- पर्यय के कारण।

जहाँ बल लगाने से–उपधान से अन्य बल उठता है—उत्क्रमण करता है उन्हें घातजा नोदना–प्रणोद–संस्कार कहते हैं। दूसरा अनाघातयुति के कारण होने वाला प्रणोद-संस्कार वह है जो बल में समीकरण होने पर भी रहता है अर्थात् जो बल अन्य बल के संघर्षण के कारण अन्य स्थान पर संक्रमण करता भी है और समीकरण के कारण पूर्व आधार में भी रहता है। जिस नोदना के प्रत्यक्ष कारण का पता नहीं चलता वह दैवकृत अथवा अदृष्टजा कहलाती है। कर्मक्षय के कारण होने वाली—कर्मक्षयलब्धावसरा कर्मजा नोदना कहलाती है। जो कर्म बल के अन्यत्र संक्रमण का कारण

होता है उसे संयोग कहते हैं। वह यदि शब्दोत्पत्ति का कारण हो तो उसे संयोजक कर्म कहते हैं। वह यदि संयागी के विभाग का कारण हो तो उसे अभिघान-नोदनाकर्म कहते हैं। उदाहरण—लकड़ी कुठार संयोग। यह जो शब्द पैदा करता है यह काम संयोगज है। संयोगी लकड़ी का विभाग भी होता है। इस प्रकार जो कुठारबल लकड़ी के संयोग से उसमें उपसंक्रान्त होता है, शब्द भी होता है और लकडी का विभाग भी, इस उपसंक्रान्त नोदना को अभिघातजा कहते हैं।

जो दूसरे को आहत करे अर्थात् उसही उपरिवर्णित परम्परा से—संयोग से यदि दूसरा कोई पदार्थ भी आहत किया जाय तो वह आहिताघात नोदना है और यदि दूसरे में उत्पन्न वह संस्कार धर्म भी उससे लय न हो तो उस संस्कार का तो भोग से ही क्षय होता है, अर्थात् जब तक बल का प्रभाव रहे तब तक क्रिया होती ही है। और जहाँ संयोग से बल समर्पित किया जाता है वह नोदना अभिघातज है। वह बल प्रदान करने वाले के द्वारा व्यासवृत्ति से बने बलवान बलोदर्क को इस प्रकार आत्मसात् करता है जैसे वह स्वयं ही हो।

'व्यासज्यवृत्ति' शब्द नव्य न्याय का है। जहाँ एक ही वस्तु दो का आश्रय हो और पूर्णरूप से एकत्र न हो वह 'व्यासज्य-वृत्ति' से हुआ ऐसा कहा जाता है। जैसे द्रव्यों में द्वित्व आदि संख्या।

बल अभिसंक्रम में कारणरूप यह संयोग यदि शब्द पैदा करने का कारण नहीं है और संयोगज कर्म विभाग का कारण न हो तो इसे सहयोग नोदना कहते हैं।

नोदना से उत्पन्न कुर्वद्रूप अर्थात् शक्ति रूपता को प्राप्त कर क्रिया को पैदा करने की ओर उन्मुख बल कभी अन्य बल के संयोग से लोप हो जाता है, कहीं संस्कार के नाश के कारण, कहीं गुरुत्व के कारण पतन होता है। कहीं दोनों ही बलवान हों तो उनके योग से फलान्तर भी हो जाता है।

जिसको अदृष्ट कहा है वह अलौकिक है। यह मनुष्यों द्वारा अनुपाख्य है। कहा है—"को अद्धावेद"। वह कहीं दैव संयोग से होता है, कहीं सत्य होता है, कहीं कर्मजवासना मय। अर्थात् पूर्वार्जित कर्मजनित वासना से असद् भी प्रतीत होता है जैसे स्वप्नादि में। उत्पत्तिशिष्ट प्रतिवस्तु-धर्मक सत्य नोदना है और स्वयं अथवा दूसरे से कृत्रिम संस्कृति ही वासना कहलाती है। यह आगन्तुक और दैवयोग से होती है। किसी भी कारण से हुई नोदना हो जो प्रारम्भ में पुरुष प्रयत्न से होती दिखाई देती है और जो बीच ही में बाद में आगे हो जाय, वह कर्म-सान्तानिक है और वह कर्मज है।

प्रथम कर्म से संस्कार ही होता है। इसके बाद क्रम से उत्तरोत्तर संस्कारज कर्म होता है। कर्म से कर्म की सिद्धि नहीं होती। साक्षात् रूप से कर्म से अन्य कर्म नहीं होता उत्क्षेपण कर्म आत्म संयोग, गुरुत्व, तथा प्रयत्न से होता है जैसे मूसल में हाथ के संयोग से। हाथ की क्रिया से मूसल में क्रिया होती है।

श्लोक संख्या १९१–१९२ वै. सू. पर आधारित है। वैशेषिक दर्शन का सूत्र है—"कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" (वै. सू. १।१।११) अर्थात् कर्म से कर्मान्तिर नहीं होता। संस्कार द्वारा उत्पन्न

परम्परा से तो कर्म पैदा होता ही है। यह संस्कार बलों का समुच्चयरूप ही है जिसे वेग कहते हैं। इस कारण कर्म की पूर्वावस्था ही संस्कार है। निष्कर्ष यह है कि स्थूल कर्म से सूक्ष्मावस्था रूप बल अन्य स्थान पर धारण किया जाता है—सूक्ष्मावस्था रूप बल स्थूल कर्म का आधार होता है। इसी से फिर सजातीय क्रिया होती है। 'क्रिया' पद से कहे जाने वाले स्थूल रूप से ही कर्म का पैदा होना भगवान कणाद ने सिद्ध किया है।

उत्क्षेपणकर्म आत्मसंयोग, गुरुत्व, तथा यत्न से होता है। जैसे मूसल में हाथ के संयोग से—हाथ की क्रिया से मूसल में क्रिया होती है। सूत्र है—"आत्मसंयोग प्रयत्नाभ्यां हस्तेन कर्म" तथा "हस्तसंयोगत्व मुसलकर्म" (वै. सू. अ. १ आ.)।

अशनाया सहित आत्मा यज्ञ, यज्ञात्मा है। उससे उदित प्राण यहाँ प्रयत्न है। वस्तुगत पृथ्वीबल गुरुत्व है। सजातीय बल का उच्चय–उत्कर्ष–चयन वेग है।

यहाँ आत्मा का अर्थ अशनाया—इच्छा सहित यज्ञ रूप भूतात्मा है। भूतात्मा यज्ञजनित होने से यज्ञ कहा गया है। उस भूतात्मा से प्राण में जो प्रेरणा होती है उसे ही प्रयत्न कहा गया है। अथवा प्रेरित प्राण ही प्रयत्न है। क्रिया मूल प्रेरणा का भी प्राण में ही अन्तरभाव होता है। नैयायिकों ने गुरुत्व नाम के गुणान्तर की कल्पना की है वह ठीक नहीं है। वास्तव में पृथ्वी का आकर्षण रूप जो बल वस्तुओं में निहित है उसी को गुरुत्व कहा जाता है। यह पृथ्वी का आकर्षण है। कहा है—'आकृष्टिशक्तिश्वमही" (ज्योतिषाचार्य श्री भास्कराचार्य), यह पृथ्वी का आकर्षण बल हमारे शरीर में भी व्याप्त है। वेग नामक संस्कार भी गुणान्तर नहीं है। बल्कि सजातीय गुणों का समुदाय ही वेग है। बल ही रस के आधार के कारण धारावाहिक होकर उन उन गुणों के नाम से व्यवहार में कहा जाता है। सार यह है कि नैयायिकों की द्रव्य, गुण, कर्म की व्याख्या-परिभाषा को आचार्य मधु स्वीकार नहीं करते। (विशेष अध्ययन के लिए देखें ग्रन्थ 'ब्रह्मसिद्धान्त' और उस पर म. प. पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी जी की टिप्पणी।) ☐

३३. आवरणाधिकरण

पूर्व प्रकरणों में बल के दो भेद, अशनाया और विक्षेप का उनके सम्बन्धित भेदों के साथ निरूपण किया गया। इस प्रकरण में बल के तीसरे भेद आवरण का निरूपण किया जायगा।

यह आवरण ही जगत की उत्पत्ति का कारण है। कम्प की गतिक्षण में विलीन हो जाती है, स्थिर नहीं रहती इसलिये उससे सृष्टि नहीं हो सकती। सृष्टि-सर्ग का कारण रस में आवरण बल है।

निश्चय ही बल का लक्षण विस्रंसन-क्षय है। स्थेमा अर्थात् स्थिति तो विस्रंसन भाव का नाश है। विक्षेपवृत्ति का परिवर्तित रूप स्थेमा है। उसे ही आवरण कहा गया है। स्थिरता—स्थेमा का अर्थ ही विस्रंसन भाव का नाश होता है। बल की विक्षेपवृत्ति यदि स्थिरता रूप में परिवर्तित हो जाय तो वही आवरण है।

वेदान्त दर्शन में आवरण का अर्थ इससे सर्वथाभिन्न है। दर्शन की प्रक्रिया शारिरिक को लेकर चलती है और आ. मधु की "एकं वा इदं वभूव सर्वम्" की व्याख्या है।

स्थेमा—स्थिरता क्या है? बलों का उपनद्ध होकर परिश्रित होना अर्थात् बल जब उपनद्ध-बद्ध होकर परिश्रित—घेरे में बद्ध हो जाय वही स्थेमा है। च्यूंकि उससे परिश्रित रूप अर्थात् घेरा बद्धता होती है इसलिये इस बल को आवरण कहते हैं। यह आवरण का दूसरा प्रकार है।

जिससे बल में अकस्मात् रूप पैदा होता है अथवा जिससे बल दिखने योग्य होता है, यह अन्य आवरण बल है। इससे प्राण रूपसमावृत होते हैं। यह आवरण बल रूप के पैदा होने का कारण होता है। यह आवरण का तीसरा प्रकार है।

बल स्वयं दर्शन योग्य नहीं होता। वह आवरणरूपता को प्राप्त कर दर्शन योग्य होता है। इसी को रूप कहते हैं। नेत्रों के साथ सम्बन्ध विशेष होने पर रूप पैदा होता है। उन वस्तुओं में प्रचरणशील प्राण रूपबल है और सूर्य से रश्मिरूप से बल ही सर्वत्र फैलता है। हमारी आँखें और अन्य इन्द्रियाँ भी बलरूप ही हैं। प्रवाह रूप होने के कारण स्थिरता प्राप्त कर परस्पर संयुक्त वे बल रूप पैदा करते हैं। और अन्य बलों के संयोग से जो रूपपरिवर्तन रूप परिणाम होता है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि रूपबलजन्य है।

जैसे-जैसे बल स्थिर होता जाता है वही स्थेमा, घनत्व कहा जाता है। इससे अपूर्व विलक्षण शक्ति पैदा होती है। अकस्मात् इसमें अपूर्व दृष्ट तेज, अग्नि का उदय होता है।

जैसे रूप बलजन्य है, इसी प्रकार स्पर्शादि भी बलसंयोगजन्य ही हैं। यथा, "मात्रा-स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदा" गीता।

सबको रूप और स्पर्श का ही ज्ञान होता है, अन्य बल निगूढ रहते हैं। आकार ही रूप है—परिच्छेद है। विभिन्न दिक् दिशा, स्थान सम्बन्ध बल रूप ही हैं। बल के घनी भूत होने पर

अग्नि, तेज इत्यादि क्रम से उदित होते हैं। सूर्य की किरणें भी बलरूप हैं। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि समस्त भूत मात्र आवरण बल रूप ही हैं।

क्रिया प्रवृत्ति—पराक्रमारम्भ के फल स्वरूप एक अपूर्व बल पैदा होता है उसको आवरण कहते हैं। इस प्रकार इस आवरण की छै प्रकार से निरुक्ति की गई है। इन सबका आवरण में ही समावेश होता है।

स्थेमा पृथक् आवरण बल है। दूसरा परिश्रित आवरण है। उससे रूप, बल, और तेज होते हैं। इनका सर्वथा पार्थक्य कभी नहीं होता। घनत्व और अपूर्व का समावेश संसर्जन रूपों में ही किया गया है।

प्रकारान्तर से आवरण चार प्रकार का कहा गया है—**माया, भाव,** अभाव, और **सर्जन**। माया के दो भेद हैं—मात्रा और संस्था। माया को पुरुरूपरूपा कहा गया है। माया का अर्थ परिच्छेद है और संस्था उन-उन वस्तुओं का संगठित रूप। जहाँ रसान्वित अन्य बलों के साथ शून्य बल अन्वित हो उसे भाव कहते हैं जिसके चार विशेष रूप हैं—प्रमित, अन्तराय, संकोच और मोह। जहां अनेक बल एकत्र रस में समन्वित हों वह आवरण भावरूप है। विक्षेप बल ही आवरण बल में परिवर्तित होता है। रस से युक्त अन्य बलों से विरहित-पृथक् भूत बल एक भाव होता है।

इसका प्रथम विकास देशाधिकत्व है। इसका उलटा है संकोच। प्रज्ञा में चैतन्य युक्त आत्मा ज्ञान है। इससे विपर्ययात्मा-उल्टा मोह है। संकोच अल्पदेशावगाही है। अज्ञान और मोह संकोच से होते हैं। मोह-संकोच संकुचितपन का परिणाम है और अज्ञान प्रज्ञा में चैतन्य का आवृत्त होना।

प्रत्येक अर्थ-पदार्थ व्यक्ति विशेष माने जाते हैं। इससे अन्योन्यभाव की सिद्धि होती है। प्रज्ञा और रूप में योगसिद्धि के प्रतिबन्ध के कारण को अन्तराय कहते हैं।

प्रमित की बिशेषता है—व्यक्तित्व। व्यक्ति प्रत्येक पदार्थ की भिन्न-भिन्न है। इस विशेषता से ही सब व्यक्तियों में पृथकता प्रतीत होती है। इससे ही अन्योन्य भाव, जिसका दूसरा नाम भेद है, सिद्ध होता है। यह आवरणजनित धर्म विशेष है। जहाँ कोई विशेषक धर्म नजर नहीं आता, वहाँ उस देश, काल का ही सम्बन्ध होता है। वह भी आवरण जनित परिच्छेद रूप ही है। प्रज्ञा में और रूपों में योग सिद्धि-संयोग का अथवा संयोगभाव के अभाव का कारण—हेतु अन्तराय कहलाता है। यह अन्तराय भाव रूप है। यही अभाव का कारण है।

जो सत्ता, ज्योति से शून्य-रहित बल केवल अकेला पृथक् स्थित हो वह बल अभाव कहलाता है। सत्ता से पृथक् होने पर "नास्ति बुद्धि" और ज्योति से पृथक् होने के कारण 'नभाति'-बुद्धि होती है। यह आवरण के भेद, अभाव की व्याख्या है। अभाव आवरण रूप बल का ही भेद है, न कि आधुनिक नैयायिकों द्वारा अभिमत कोई अतिरिक्त तत्त्व।

अभाव में बल सत्ता से सम्बन्ध नहीं करता, परन्तु सत्ता का सम्बन्ध तो विभु होने से अभाव में भी है। सत्ता का अभाव में भी अभाव नहीं है। यह सत्ता का बल से विभूति सम्बन्ध है। अभाव में दो प्रकार का प्रतिबन्ध होता है—(१) प्रभवसत्ता प्रतिबन्ध और (२) सम्बन्धसत्ता प्रतिबन्ध।

प्राक् असत् प्राक्ध्वन्स, अथवा अश्व, श्रंगादिवत् असत्य—इन तीनों अभावों में प्रभवस्थसत्तासंसर्गशून्य बल का बोध होता है।

प्रभवस्थसत्ताप्रतिबन्ध का अर्थ कारण में स्थित सत्ता का बल द्वारा अग्रहण है जो सामग्री, संघटन आदि का प्रतिबन्ध-रुकावट होता है। यहाँ अनुद्भूत बल के लिए ही असद् शब्द का प्रयोग किया गया है। यह प्रागभाव है।

प्रध्वन्साभाव भी प्रभव-कारण में स्थित सत्ता का प्रतिबन्ध ही है। कारण सत्ता ही कार्य सत्ता द्वारा गृहण की जाती है, न कि कार्य की पृथक् सत्ता होती है। इसी प्रकार बल भी रस से ही सत्तावान् होता है, न कि स्वतन्त्ररूप से। बल ही तो रसाश्रय से उस रूप परिणत हो जाता है और जो अत्यन्त असत् है इसमें भी उस प्रकार के श्रंगोत्पादक बल ने कहीं भी सत्ता को गृहण नहीं किया।

इस प्रकार प्राक्भाव, प्राक्ध्वन्सभाव, और असत्-अनुद्भूतबल तीनों ही प्रभवसत्ताशून्य बल हैं। लोक में 'घोडा नहीं', "न घडा है", "उसका ऋण नहीं है", "उसका विरोध नहीं है"—ऐसी अभावात्मक प्रतीतियाँ होती हैं। इसका कारण सम्बन्धसत्ताप्रतिबन्ध है।

किसी काल या देश में विद्यमान वस्तु की सम्बन्ध सत्ता का ही यहाँ बोध होता है। जो किसी काल या स्थान में कभी था उसकी उस सत्ता के अभाव का ही यहाँ बोध होता है। देश और काल बल विशिष्ठ ही हैं। ये Matter-in-Motion की ही different forms हैं। यहाँ उस सम्बन्धी सत्ता का अभाव प्रतिबन्ध ही है।

अभाव का तीसरा उदाहरण है सूर्यादि के तेज का प्रतिबन्धरूप तम। यह रूपसत्ता के प्रतिबन्ध का कारण है। रूप के नाश से तो सत्ता का भी अबोध हो जाता है। तम भी अभावरूप है—यह वंशेषिक प्रक्रिया में बताया है। तम सूर्यादि के प्रकाश का प्रतिबन्ध रूप अभाव है।

उपरोक्त भाव, अभाव विवेचन का आधार वैशेषिक दर्शन प्रक्रिया है। आ० मधु की प्रक्रिया इससे भिन्न है। वह रस-बल पर आश्रित है। भाव-अभाव सब बल के ही कारण होते हैं। विस्तार पूर्वक स्पष्ट से समझने के लिए पाठकों को मूल का ही अध्ययन करना उचित होगा।

आवरण का चौथा रूप संसर्जन है। यह कई प्रकार का है—(१) क्रिया रूप, (२) उससे की गई संस्क्रिया रूप, (३) ग्रन्थि रूप, (४) घनता रूप तथा (५) अन्य प्रकार से।

कहीं रस से बल आवृत्त किया जाता है, इसलिए निर्लक्षण होने से रस भी नहीं दिखता। अथवा कहीं बल रस को ढकलेता है इससे वह रस बल रूप दिखता है। यह क्रिया से होने वाले संसर्जन-आवरण का लक्षण है।

रस में, कर्म की-बल की कोई भी स्थिति हो, बल अपने देह से प्रमित रस को नहीं त्यागता। रस बल रूप ही हो जाता है। रस की परिमिति भी बल से ही होती है। यह आवरण ही है। यह क्रिया रूप आवरण है।

जब कोई भी बल रस से मुक्त होता है तब रस में बल अपने योग के अनुरूप अपूर्व का उत्पादन कर स्वयं नष्ट हो जाता है वह यहाँ एक अपूर्व संस्कार का अनुबन्ध करता है। इसे संस्क्रिया-संस्कार कहते हैं। यह संसृजन आवरण का दूसरा रूप है। आहित बल स्वयं तो नष्ट हो जाता है, परन्तु अपने फल रूप नवीन बल का उत्पादन कर नष्ट होता है। यही नवीन बल का उदय संस्कार है। मीमांसक इसको अपूर्व कहते हैं। वे कहते हैं कि यज्ञादि से उत्पन्न संस्कार ही स्वर्गादि फल देते हैं। पानी से ईंट बनना बल जनित संस्कार का एक लौकिक उदाहरण है। दूसरा उदाहरण है—हाथ के बल से टूटे हुए अथवा टेढे किये गये तिनके का। ये हैं लौकिक उदाहरण। आध्यात्मिक उदाहरण है—आहित अर्थसंगअनुभव प्रज्ञा में अर्थवत् ही रूप धारण करता है। यही स्मृति है। यह अर्थ संग व्यवसाय के नाश से नष्ट नहीं होती। जब नेत्र आदि इन्द्रियों से कोई द्रव्य देखा जाता है, अथवा सुना जाता है तब अनुभव से वैसा ही रूप प्रज्ञा में आधारित हो जाता है। यही प्रज्ञा में, बुद्धि में अर्थसंगअनुभव का आहित होना कहा गया है। यही प्रज्ञा में निहित संस्कार है। यही मीमांसकों का अपूर्व है और नैयायिकों का धर्माधर्म। यही कर्म जनित संस्कार भूतात्मा में जमता है तथा कालान्तर में यहाँ अथवा दूसरे लोक में सुख दुःखरूप फल को देकर नष्ट होता है जैसाकि कहा है—"प्रारब्ध कर्माणां तु भोगादेवक्षय:"।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भी बल का प्रयोग होता है, ध्रुव अटल संस्कार पैदा होते हैं। उस बल प्रयोग के दूर हो जाने पर उस रस में पड़े संस्कार नष्ट नहीं होते।

जो प्रतिक्षण एक देश से उपक्षय क्रम है वह कर्म की उच्छित्ति है जिससे एक का ही यह नया, प्रौढ़, विजीर्ण क्रम से वैरूप्य अर्थात् यह जगत होता है। यही संस्कृति है।

विश्व ही समब्रह्म की कृति-संस्कृति है—इसका विशद और सूक्ष्म विवेचन स्व० पं० मोतीलालजी ने अपने महद् निबन्ध—"संस्कृति और साहित्य" में किया है जो पठनीय है।

रस में बल एकत्र स्थित होता है यह उसकी ग्रन्थि है। उससे बन्ध होता है। जिस रस से बल का बन्धन होता है उसके कारण बल आत्मन्वी कहा जाता है।

यह ग्रन्थि रूप सर्जन का तीसरा भेद है। रस में बल की स्थिरता से 'ग्रन्थि' होती है। बहुत से स्थिर बल का परस्पर अनुप्रवेश ही ग्रन्थि है। इसी को लौकिक में उलझन या गाँठ कहते हैं। ग्रन्थि से बन्धन होता है। जिससे बल का बन्धन हो वह रस आत्मा और वह बल आत्मन्वी कहा जाता है।

सर्जन का चौथा रूप घनता है। अल्प रस में बहुत से बलों के अवगाहन से अन्तरमुखता होती है। परस्पर घात के कारण गाढापन-घनत्व होता है। बलों की अन्तः स्थिति होती है, उनका अप्रसाद होता है।

अल्प प्रदेशावगाही रस में अनेक प्रकार के बल संकोच वृत्ति से परस्पर आघात करते हुए अन्तः प्रवेश करते हैं। परस्पर आघात से घनता—निबिड़ता आती है। बलों का विकास नहीं होता। वे अकृत-निकम्मे-अशक्त हो जाते हैं। घनता में बलों के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और बल ग्रन्थि बन्ध हो जाते हैं—परस्पर उलझ जाते हैं—गुथ जाते हैं। साथ ही टुकड़े-टुकड़े भी हो जाते हैं। यह एक से अनेक होने का प्रकार है।

इच्छा, क्रिया और आवरण—ये पुरुष में शक्तियाँ मानी गई हैं। निश्चय ही यह जगत शक्तित्रय का भोग विशेष है।

अशनाया नाम से कथित इच्छा-विक्षेप-आवरण शक्ति के ही रूप हैं। ये **शक्तित्रय** कहलाती हैं। इनसे ही आत्मा का भोग साधन होता है। सारा जगत इन्हीं का रूप है। आगम शास्त्र में तो इच्छा, ज्ञान, क्रिया तीनों शक्ति के ही तीन परिणाम कहे गये हैं। निगम में अशनाया को इच्छा रूप और विक्षेप को क्रिया रूप माना गया है। क्रिया भी अहंकार गत गुणों में ही गिनी जाती है। आगम में विक्षेप, कारण रूप अहंकार के गुणों में प्रतिपाद्य क्रिया कर्म रूप है। और ज्ञान भी वृत्यात्मक कार्यरूप ही है। मुख्य ज्ञान तो कारणरूप-पुरुषरूप ही है, इसे पृथक् नहीं गिना गया है।

□

३४. कर्मरूपाधिकरण

इस अधिकरण में ब्रह्म में कर्म के रूपों का विवरण है, जिनसे एक ही के अनेक रूप दिखाई देते हैं। कर्म वह है जिसका स्वरूप उदय और प्रलय है। कर्म निश्चय ही अमृत से पूर्ण है।

कर्म-मृत्यु जब अव्यक्त हो, सुप्त हो तब उसको शून्य कहते हैं, किन्तु जो सुप्त हो, व्यक्त होकर भी कार्य में अक्षम हो उसे निरात्मसुप्त कहते हैं। जब बल से उत्पादित-अनुसृष्ट कर्म आत्मन्वी होता है—रस को आत्मरूप से ग्रहण करता है तब उसे पूर्ण कहते हैं। बल भी कर्म उत्पन्न करके ही पूर्ण होता है।

कर्म उदय और प्रलय के भेद के कारण प्रतीत होता है। फिर यह कर्म भी तीन प्रकार का होता है। जितना भिन्न उदय और फिर प्रलय होता है उतना ही वह भिन्न प्रतीत होता है।

कर्म का ज्ञान तीन तरह से होता है। कर्म के तीन रूप हैं :—१. क्षणिक, जो इसका मुख्य रूप है; २. क्रमिक सान्तानिक, ३. प्रावाहिक। प्रावाहिक पराव्यय रूप है। इसमें सान्तानिक और सान्तानिक में क्षणिक निगूढ़-अन्तर्निहित है जो मुख्य क्षणिक स्वरूप है उसमें क्षण में प्रलय और उदय होता है। उन असंख्य क्षणिक कर्मों से निर्मित सान्तानिक उसका परम स्वरूप है। कितने क्षणिकों से सान्तानिक रूप निष्पन्न होता है यह निश्चित नहीं है।

सान्तानिक बल में प्रलय और उदय दोनों होते हैं। दोनों में काल का विभिन्न प्रकार से अन्तर होता है। जिनको यहाँ लोक में कर्म कहते हैं वे सान्तानिक ही होते हैं।

कुछ सान्तानिक रूप अल्पकालिक होते हैं और कुछ बहुकालव्यापी। हर एक क्रिया अनेक क्षणिक क्रियाओं की समष्टि है। एक काम में सैंकड़ों क्रियाएें अन्तरभूत होती हैं। व्यावहारिकत्व तो सान्तानिक कर्म का ही है। क्षणिक कर्म का तो विचार भी सम्भव नहीं।

उन असंख्य क्रमिक कर्मों से निर्मित कर्म का प्रावाहिक स्वरूप कर्म का परम स्वरूप है। प्रावाहिक कर्म से परे अन्य कोई स्वरूप नहीं है। उसी रूप को जगत कहते हैं।

बहुत से सान्तानिक कर्मों से एक प्रावाहिक रूप होता है। नदी की तरह एक ही प्रावाहिक में बहुत से सान्तानिक रूपों का अन्तरभाव होता है। फिर अनेकों प्रावाहिक रूपों से जो महाप्रावाहिक रूप बनता है वही परम रूप जगत है।

यह प्रावाहिक निरात्मक नहीं हो सकता। जो आत्मन्वी हैं उनमें कोई कभी क्षणिक नहीं हो सकता। जो क्षण उत्पन्न होते ही नष्ट होने वाला है उसका आत्मग्रहक्षण समझ में नहीं आ सकता।

रस से गृहीत का ही सन्तान अथवा प्रवाह सम्भव है। रस ही आत्मा है, इसलिए प्रावाहिक रूप सात्मक ही होता है। क्षणिक का सात्मक होना सम्भव नही है। यदि क्षणिक का

आत्मा के साथ सम्बन्ध न हो तो सन्तान प्रवाह ही कैसे हो ? इसलिए कर्म को त्रिक्षणवृत्ति ही मानना चाहिए, जैसे एक उत्पत्ति क्षण, दूसरा स्थिति क्षण और तीसरा विनाश क्षण। तीनों का ही आत्मा के साथ सम्बन्ध है।

धारा द्विविध है—एक अन्तवन्ती और दूसरी निरंता। प्रवाह कर्म निरन्तरधार है, सान्तानिक सान्तधार और आद्यकर्म क्षणिक होने से निराधार है। ये तीनों ही आत्मगत हैं। आ० मधु कहते हैं—

"त्रिलक्षणं कर्म वदामि तस्मात् ।" तथा—

प्रवाहकर्मास्ति निरन्तधारं सान्तानिकं कर्म तु सान्तधारम् ।
अथाद्यकर्म क्षणिकं त्वधारं त्रीण्यप्यमून्यात्मगतानि वीक्षे ॥



३५. प्रवाहाधिकरण

जो इस सब का—'इदं सर्वम्' का पोषण करता है वह ब्रह्म है। जो बल के कारण प्रवाह रूप से दिखता है वह उसका भाग हैं। वह उसकी उपासना करने वाले को ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनाता है।

इसे वेदान्त शास्त्र में 'माया शबलित ब्रह्म' अथवा 'विशिष्ठ ब्रह्म' कहा जाता है। यह सारे जगत का विधारक होने से ब्रह्म कहलाता है। वह अज्ञेय, अज्ञात है। उसके भाग ही जगत में दिखाई देते हैं। उनके अंशों की यदि उपासना की जाय तो पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

मन द्वारा परमात्मा में किया गया आत्म समर्पण योग है। यही उपासना है। यह उपासना और अर्चा दो प्रकार से की जाती है—प्रतीक से अथवा अनुरूप चित्र से भी। इसे प्रतीकोपासना और अनुरूप चित्रोपासना कहते हैं।

एक भाग-देश-खंड से समग्र का ग्रहण—"एक देशेन तद् समग्रग्रह:" प्रतीक है। यही इसका निर्वचन है। किसी का हाथ पकड़ो तो उस पुरुष का पकड़ना कहा जायगा और पाद सेवा से उस पुरुष की सेवा होगी। यही प्रतीकोपासना है।

यह कर्म प्रवाह अनादि अनन्त है। जो जगतमय है वह परमात्मा है। सर्वात्मा में अल्प का योग बन नहीं सकता। प्रतीक में मन लगे यही योग है। कहा है—"कर्मप्रवाहोऽयमनाद्यनंतो जगन्मयो य: स मत: परात्मा"।

यदि कोई गंगाप्रवाह के द्वारा जगत्प्रवाह में मन लगाय तो अनुरूप चित्र प्रदर्शन से जिसका वह स्वरूप है उसका ज्ञान हो जायगा। यह अनुरूपचित्रोपासना का उदाहरण है।

तात्पर्य यह है कि यदि अंश बुद्धि से भावना की जाय तो यह प्रतीकोपासना होगी और यदि सादृष्य बुद्धि की भावना की जाय तो वह होगी अनुरूपचित्रोपासना।

गंगा बहुरूपभिन्ना होते हुए भी प्रवाह में उसका एक ही रूप है। उसकी प्रतीक रूप से धारणा कर यदि बहुरूपभिन्न जगतप्रवाह में चित्त लगाय वह परमात्मा में ही योग है—यह कहना उचित है। यदि कोई भी गंगाप्रवाह के माध्यम से जगत्प्रवाह में मन लगाय तो अनुरूपचित्र प्रदर्शन से जिसका चित्र है उसका स्वरूपत: ज्ञान होगा।

गंगा प्रवाह का अर्थ जल प्रवाह है और जल त्रिपथानुगामी है। इसलिए गंगा भी त्रिपथा—त्रिपथगामिनि है। इसी प्रकार यह प्रकृति पृथक्-पृथक् तम, रज, सत्त्व रूप त्रिधारा है। जलाशय में भी जल त्रिधा दिखाई देता है। कहीं बहुत प्रवाह होता है और लहरें नहीं होती। कहीं लहरें बहुत होती है, पर प्रवाह नहीं होता, तो कहीं प्रवाही और महोर्मि होता है। इसी प्रकार बलाशय-जगत भी सर्वदा ही तेज प्रवाही और महोर्मि है। इसका न प्रभव दिखता, न अवसान।

गंगा प्रवाह और जगत प्रवाह दोनों का सादृष्य है। प्रवाहक्रम क्षण-क्षण में भिन्न होता है—बदलता है। कभी क्षीण होता है, कभी पूर्व से विलक्षण प्रतीत होता है। परन्तु इसमें यह विशेषता प्रतीत होती है कि नदी का प्रवाह विशेष दिक्-दिशा में ही होता है, जबकि जगत प्रवाह में बिना दिशा ही—चहुँदिश प्रतिपल आना-जाना, आगमागम चलता ही रहता है। जितना भी बल सामने दिखाई देता है यह नया-नया कहाँ से आया और कहाँ जाता है? जहाँ इसका प्रभव और परायण है उसे हम नहीं जानते। यह प्रवाह पहले कब प्रवर्तित हुआ? इसका अन्त कब होगा? इसे कौन जाने? "के विदुः"। यह बल प्रवाह अनादि, अनन्त, सतत, सनातन, एकवत् चलता रहता है। जो कर्मधारा यहाँ रस में चलती है वह अनादि अनन्त है इसलिये इसका विराम—अन्त नहीं है। अविश्रान्त निरन्तर क्रम से जगत अनादि, अनन्त कहा गया है। □

३६. उपासनाधिकरण

प्रतीक, प्रतिरूप, अथवा दृष्टान्त से कहीं भी तत्त्व का आरोप और तुल्य नाम, रूप, कर्म का उपचार उपासना है। पहले अधिकरण में प्रसंगोपात्त प्रतीकोपासना और अनुरूपचित्रोपासना का उल्लेख हुआ है। चित्र और चित्रित का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है। इसको दृष्टान्त भी कहा जा सकता है। यह शब्दभेद मात्र है। उपचार का अर्थ वाह्याचार-दृष्टि है। उपचार का अर्थ आरोपित भी है। भेद ज्ञान के होते हुए भी अभेद भावना का आरोप उपचार कहा जाता है। यह भावना संशय, सम्यक्, मिथ्या सादृश्य बुद्धियों से विलक्षण ही है। इसमें शब्द प्रयोग लक्षणावृत्ति से होता है। यह भी आरोपित ही होता है। अन्यत्र और अन्य के धर्मसाम्य के कारण जो रूपसांकर्य उदय होता है वह उपासना है और भक्ति-भाग होने के कारण उपास्य और उपासक दोनों के कर्म, शब्द, बुद्धियाँ एक हो जाती हैं।

पूर्व में भक्ति का अर्थ भाग बताया है। उपचार भी भक्ति ही कहा जा सकता है। लक्षणा को भी भक्ति ही कहा है। दर्पण आदि में जो अपना मुख देखा जाता है वह भी वास्तव में अपना भाग ही है। अपने ही प्राण वहाँ किरण रूप से मिले हुए नजर आते हैं। यही प्रतिबिम्ब का रहस्य है। इसी प्रकार चित्रादि में भी चित्र लेखक जिसे चित्रित करता है उसको अपनी बुद्धि में जमाकर बुद्धि में जमे अपने उस भाग को ही चित्र में लिखता है। इस प्रकार भक्ति शब्द वहाँ भी भाग के अर्थ में ही प्रयोग में आता है। इस प्रकार जहाँ जहाँ बुद्धि में समानता का भाव हो वहाँ-वहाँ सब जगह भक्ति शब्द प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार के उपचार स्थल में नाम, रूप, और तद्विशयक बुद्धि लोक दृष्टि से भी एक रूप हो जाती है। उदाहरणार्थ—जब कोई काच में रूप देखता है तो यह 'मैं ही हूँ' ऐसी बुद्धि होती है। देखता किसी अन्य को है और समझता किसी अन्य को है। इसमें भक्ति-भाग मानने पर ही सच्चा अर्थ निकलता है। भक्ति जिसे उपचार भी कहते हैं इसका कारण है। अतः टिप्पणीकार श्री चतुर्वेदीजी कहते हैं कि अनुरूपचित्रोपासना मिथ्या बुद्धि नहीं है। आचार्य श्री मधु कहते हैं—चित्र में देखते तो हाथी, घोड़े, गाय हैं, परन्तु इन प्रतिरूपको से उनके वास्तविक रूपों का ज्ञान होता है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों की समानता के कारण दृष्टि समानरूप से, अभिन्नरूप से दार्ष्टान्तिक होती है। कहा है—

"दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः समत्वाद् दार्ष्टान्तिकाभिन्नतयाऽत्र दृष्टिः ।
दृष्टान्तशब्दस्य तथा प्रयुक्तिर्दार्ष्टान्तिके भक्तिरुपासना सा ॥

श्री चतुर्वेदीजी पौराणिक मूर्त्तियों–चित्रादिकों की पूजा को भी इसी आधार पर उपासना अथवा उपचार से इसे भक्ति ही कहते हैं।

आचार्यश्री मधु ने अन्य लोक सिद्धउदाहरण भी भक्ति को स्पष्ट करने के लिए दिये हैं जसे, वाक् के विभिन्न भेदों में अक्षर ब्रह्म की भावना, कर्म वृक्ष के लिए अश्वत्थ बुद्धि, चित्र में

कमल, पहाड़, समुद्रादि की बुद्धि। यह सब भक्ति ही मानी गई है। अक्षरब्रह्म पर दृष्टि होने के कारण वाणी के रूप भेदों में भी अक्षर शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए वाणी के अन्य भेदों में भी उनके द्वारा ब्रह्म के भेदों की समानता समझना चाहिए। जैसा ब्रह्म वैसा ही यह शब्द। दोनों में सब विशेषताएँ समान हैं। इसलिये शब्द में निपुणता प्राप्त करने वाला अन्तर-निविष्ट ब्रह्म को भी, उसका शब्द से साम्य होने के कारण, समझ लेता है। यथा, तदित्थमन्येऽपि तथैव भावाः शब्देषु ते तद्वदिहापि वेद्यः। शब्दे खलु ब्रह्मणि यः प्रविष्टः सम्यक् परंब्रह्म च सोऽधिगच्छेत् ।।आ. मधु ।।

इसी संदर्भ में एक अन्य उक्ति भी है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

शब्दब्रह्म और परब्रह्म में अनेक प्रकार से सादृष्य है, इसलिए शब्दब्रह्म को भली प्रकार जान कर पर ब्रह्म में दृष्टि जम सकती है। शब्द ब्रह्म और अक्षरब्रह्म की सादृष्यता निम्न प्रकार से है :—

शब्द में स्वर पराव्यय स्थानीय है और अक्षर अक्षर-ब्रह्म स्थानीय। शब्द में वर्ण तीन प्रकार के हैं, क्षर भी तीन प्रकार का कहा गया है। स्वर उदात्त, स्वदित, अनुदात्त भेद से तीन प्रकार का बताया है। क्षर के तीन भेद हैं—अक्रिय, उपसर्जनक्रिय, और उपजनक्रिय और वर्ण भी तीन प्रकार के हैं—विवृत, स्पृष्ट, तथा अन्तस्थ।

जैसे स्वर में अक्षर और वर्ण, इसी प्रकार पर-अव्यय में अक्षर और क्षर। इसी तरह फिर ज्योति का साम्य उदात्त से, स्वरित का धृति से, और निहित स्वर अर्थात अनुदात्त से प्रतिष्ठा की समता है। इसी प्रकार अक्षर तथा क्षर के अन्य रूपों की स्वर, अक्षर, व्यञ्जन, मात्राओं से समता है।

निष्कर्ष यह है कि—"शब्दे खलु ब्रह्मणि यः प्रविष्ठः सम्यक् परं ब्रह्म च सोऽधिगच्छेत् ।"



३७. सन्तानाधिकरण

गत प्रकरण में प्रसंगवश आये उपासनातत्त्व का निरूपण करके अब प्रकृति विशय पर आते हैं। पूर्व प्रकरणों में कर्म तीन प्रकार के बताये थे—क्षणिक, सान्तानिक, और प्रावाहिक। पहले प्रावाहिक का विवरण किया था। अब इस अधिकरण में सान्तानिक का विवरण देते हैं।

प्रवाह में जो लहरें हैं उनका रूप है—उत्थान और पतन। वे अनन्त हैं। रस-ब्रह्म में कर्म-लहरें उठ-उठकर गिरती हैं। वायु से जल में तरंगमाला की तरह ब्रह्म में कर्मों की सन्तति—सन्तानक्रम अविरलरूप से सर्वदा चलता रहता है। यह बल ब्रह्म में उठता है—जाग्रत होता है और सृजन करता है और वहीं विलीन हो जाता है। जितना उठता है, उतना ही गिरता है। यह सब ब्रह्म-रस में कर्म-बल का ही विस्तार है। कर्म का उत्थान ही कर्म सृष्टि कही जाती है और पतन ही उसका विलय है। बलकृत उत्थान और पतन रस के आधार पर ही होता है। किसी नये बल की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उसका प्रवाह नित्य है, उत्थान से पतन पर्यन्त कर्म एक ही कहा गया है वह सान्तनिक है। इसमें सैंकड़ो क्षणिक कर्म पैदा होते हैं, परन्तु हैं वे सब एक ही।

जलप्रवाह और कर्मप्रवाह का साम्य बताते हुए कहा है—कर्मप्रवाह में एक-एक कर्म में भी भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के कर्म हैं। जल प्रवाह में भी भिन्नता-अनेकता है और कर्म प्रवाह में भी। जल में प्रवाह है। प्रत्येक लहर के ऊपर लहर होती है और कर्म प्रवाह में भी एक कर्म के भीतर अन्तरंग होते है। तात्पर्य यह है कि सन्तान रूप इसी कर्म में पृथक् पृथक् अनेक कर्म होते हैं जैसे, पचि्-पाक क्रिया में, जल तरंगों में। इन्हीं दृष्टान्तों से कर्म तरंग को समझना चाहिए।

यह लहर ही सान्तानिक कर्म कहा गया है। यह कर्म छोटा, बड़ा, और अनन्त भेद वाला है। क्षुद्र को बृहत् के अन्तरगत मानों अथवा क्षुद्र अथवा बृहत् को पृथक् पृथक्।

यह जो महान् उत्थान, निपात रूप है, जिसे ब्रह्मांड सर्ग कहते हैं, वह एक है। उसके उत्थान-निपात रूपों से उससे भिन्न असंख्य ब्रह्मांड सर्ग उत्पन्न होते हैं।

यह उत्थिति-उत्थान-उदय धीः (बुद्धि, मन, चित्त आदि), प्राण, वाक्, महत्, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी—इस प्रकार सात अवयव वाला होता है। पृथ्वी फिर धी रूप हो रस में लीन होती है। यह महोर्मिका पतन है। यही संचर, प्रतिसंचर भाव है। रस का बलजन्यकर्म से सम्बन्ध होने पर पहले मन उदित होता है। उसके पीछे प्राण, फिर वाक्। ये सर्व सृष्टि साधारण हैं। कहीं भी, कुछ भी सृष्टि इनके बिना उदित नहीं होती। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी—इस प्रकार तीनों पिंड प्रत्येक ब्रह्मांड में भिन्न-भिन्न उत्पन्न होते हैं। इन सातों अंगों के उत्थान से प्रत्येक ब्रह्माण्डसृष्टि की पूर्णता होती है। यह सप्तावयव ब्रह्माण्ड का उत्पादन करने वाले एक ही बल की महोर्मि है। पृथ्वी के उत्पन्न होने तक लहर का उत्थान है और पतन होने पर पृथ्वी और चन्द्र सूर्य में; मरुत् सूर्य सोम मंडल में और सोम मंडल वाक्, प्राण, मन में क्रम से लीन होते हैं। यह पतन रूप महातरंग है। उसके अन्तरगत

दूसरी उत्थिति सूर्य का उद्भव करने वाली है और पतन सूर्य का नाश। उसमें भी उसके भीतर-अन्तरगत लहर के उठने पर पृथ्वी हुई और उसका पतन पृथ्वी का विनाश। यह ब्रह्माण्ड रूप महात-रङ्ग के बीच में अवान्तर तरङ्ग हैं। इनका उठना सूर्य तथा पृथ्वी की उत्पत्ति और पतन इनका विनाश।

राम हुआ, यह हुई एक तरङ्ग की उत्थिति। राम मर गया यह है, तरंग का पतन। इस प्रकार विभिन्न कर्मों का उत्थान-पतन पृथक् रूप से समझा जाता है। पृथ्वी पर जो ये मनुष्यादि प्राणी उत्पन्न होते हैं वे अवान्तरों के भी अवान्तर तरंगे मानी जाती हैं। कहते हैं—आदमी पकाता है, सुनता है, खाता है, सोता है इत्यादि अनेकों क्रियाएँ करता है— इन सब का लोक में अपना ही पृथक् पृथक् उत्थान-पतन होता है। पाक क्रिया के उत्थान-निपात-स्वरूप में अनेक क्रियाओं का उत्थान-निपात होता है। क्षणिक के भीतर चलने वाले उत्थान-निपात तो पृथक्हैं। कहा है—

"नानाक्रियोत्थाननिपातभङ्गाः"। और "तदन्तरन्तः क्रमतस्तदन्ते तूत्थानपातः क्षणिके पृथक् स्युः।" □

३८. क्षणिकाधिकरण

अनेक प्रकार की ऊँची, नीची—छोटी, बड़ी सान्तानिक प्रवाहों-उर्म्मियों—क्रियाओं में स्वचलित सुश्रंखलाबद्ध क्षणिक क्रियाएँ होती हैं, इसलिये उनकी बहुक्षणावृत्ति होती है।

कर्मसन्तान अथवा सान्तानिक कर्म के अन्तर्गत अनेकानेक क्षणिक कर्म होते हैं। क्षणिकों की क्रिया (कर्म) का अपना स्वरूप रस को आधार बना कर शृंखला बद्ध, बिना रुके हुए, क्रम रूप से चलता रहता है। इसलिए, क्षणिक कर्म के भी बहुक्षण वृत्तितारूप सन्तान प्रतीत होते हैं।

सारे सान्तानिक कर्म भी धारावाही हैं, किन्तु सादिथ, सान्त हैं। इसलिए ये प्रावाहित कर्मों से भिन्न प्रकार के होते हैं।

कर्म की तीन विधाएँ हैं। इनमें कुछ साम्य है और कुछ वैधर्म्य। सान्तानिक कर्म भी धारावाहिक और प्रवाही भी धारावाही, यह दोनों में समानता है। किन्तु सान्तानिक सादि, सान्त होते हैं, जबकि प्रावाहिक अनादि, अनन्त हैं, यह दोनों में भेद है। सन्तान रूप कर्म समय विशेष पर ही प्रारम्भ किये जाते हैं और अपने-अपने फल, पाक, स्थान, संयोग को प्राप्त कर ही शान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार महासान्तानिक कर्मों का भी प्रारम्भ और समाप्ति होती है। इसी भेद के कारण सान्तानिक और प्रवाही पृथक्-पृथक् गिने जाते हैं। कर्म प्रवाह कभी नहीं रुकता। सृष्टि और प्रलय कर्म अनवरत होता रहता है।

ये अखिल क्षणिक कर्म सोत्थानपात होते हैं, किन्तु धाराप्रवाही नहीं होते। इसलिए ये सान्तानिक से भिन्न हैं। सान्तानिक कर्म-बल भिन्न तो हैं, परन्तु ये क्षणिक कर्मों के बिना नहीं होते और प्रावाहिक कर्म भी भिन्न हैं, परन्तु वह भी सान्तानिक कर्म बिना नहीं होता।

क्षणिक कर्म का भी उत्थान-पतन होता है। यह दोनों में समानता है, किन्तु सान्तानिक कर्मों में, क्रियाओं में धारा अर्थात् क्रमबद्ध परम्परा दिखाई देती है। क्षणिक कर्म-क्रिया तो एक-एक व्यक्तिरूपा होता है। वहाँ धारा-कर्मबद्धता नहीं होती। यह क्षणिक और सांतानिक में अन्तर है। नित्यानुव्रत, सर्वदा बदलते रहने वाले क्षणिक कार्य, के तो उत्थान-निपात का कोई हेतु दिखाई नहीं देता और प्रावाहित कर्म का भी सततानुवर्ती प्रवाह में पृथक् कोई कारण नहीं दिखाई देता।

यह स्पष्ट है कि तीनों प्रकार के बल अर्थात् बल जनित कर्मों में अन्तर है, फिर भी क्षणिकों के बिना सन्तान क्रिया नहीं होती। सान्तानिक क्रियाओं के बिना प्रवाह सम्भव नहीं होता। इस प्रकार आगे-आगे का पहले-पहले से अविनाभाव अवश्य ही समझना चाहिए। क्षणिक कर्म अपने आधार पर कहाँ से अकस्मात् उत्पन्न होता है इसका कारण ज्ञात नहीं है।

सान्तानिक कर्म सहेतुक और अनित्य हैं। इनमें जो बल साधक होता है वही बल बाधक भी होता है। यही तो बल की विचित्रता है।

मूल रस ज्योतिर्मय है—प्रतिष्ठित है। उसका उत्क्रमण अशनाया के कारण होता है। वहाँ अशनाया ही उत्क्रमण करती है। रस तो सर्वत्र उसके लिए स्थित ही मिलता है।

कर्मों के सन्तान और प्रवाह में भी रस निर्विकार ही रहता है। अशनाया के कारण उसका उत्क्रमण दिखता है, परन्तु वह उत्क्रमण तो अशनाया का ही है। जहाँ कहीं भी अशनाया उत्क्रमण कर जाती है वहीं रस तो होता ही है, क्योंकि रस विभु है। उसका उत्क्रमण संभव नहीं है। उसके उत्क्रमण की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जैसे आकाशगत वायु चारों तरफ घूमती हुई आकाश से पृथक् नहीं होती—गिरती नहीं, उसी तरह अमृत में रहता हुआ यह मृत्यु उत्क्रमण करते हुए भी—उत्क्रमणगत होते हुए भी रस से हीन-रहित नहीं होता। अशनाया—मृत्यु—बल—कर्म आश्रयभूत रस-अमृत-ब्रह्म को कभी नहीं छोड़ता। कहा है—

"वायुर्यथाकाशगत: समन्तत: परिभ्रमन्नम्बरतो न हीयते।
मृत्युस्तथैवाऽमृतगः स उत्क्रमंगतोऽपि नैतेन रसेन हीयते ॥आ०मधु॥ 

३९. कर्मबन्धाधिकरण

इस अधिकरण में कर्म से बन्ध किस प्रकार होता है यह युक्तियों और दृष्टान्तों से समझाया गया है।

स्वल्प अशनाया, रस में रहते हुए भी—रसगा होने पर भी, अपूर्ण है। वह नित्य अन्य रस के लिए उत्क्रमण करती है। ज्योंही रस प्राप्त कर निवर्तन करती है फिर अन्य रस की प्राप्ति के लिए उत्क्रमण करती है। रस प्राप्त करके यह निपटती है, तो भी रस शेष रह जाता है। जब तक आत्मन्वि नहीं होती तब तक वृथा ही उत्क्रमण, निवर्तन करती रहती है।

अशनाया—इच्छा शक्ति स्वयं अपूर्ण, परिछिन्न है। अपनी अपूर्णता के कारण रस को भी परिच्छेदबद्ध दिखाती है। वह पूर्णता के लिए, रस ग्रहण करने के लिए, उत्क्रमण करती ठहरती, चलती है। जो रस उसका आश्रय है उससे अन्य रस को फिर उसके साथ संयुक्त करना चाहती है, उसके लिए आक्रमण करना चाहती है। यद्यपि रस एक ही है, उसमें भेद नहीं है तो भी मायारूपी बल परिच्छेद कर उसमें भेद करता है। उसके उत्क्रमण, निवर्तन करने पर भी रस में कोई कमी नहीं होती। यदि बल आत्मन्वि न हो—रसात्मा बल में प्रतिष्ठित न हो, उसका उत्क्रमण, निवर्तन व्यर्थ है। जैसे, जल में तरंगे उठती हैं और वृथा ही बहुत सी नष्ट हो जाती है, वायु बन्ध से फेन रूप हो आत्मन्वी होकर जल से पोषित हो बहती हैं।

जल-तरंग दृष्टान्त से बल का निष्फलत्व, सफलत्व स्पष्ट होता है। जल में सतत तरंगे उठती हैं और नष्ट होती है, इसलिए वे निष्फल हैं। तरंग का वायु से बद्ध होना, संघर्षण से फेन रूप होना—यह उसकी सफलता है। इस प्रकार बल ग्रन्थिबन्ध के कारण आत्मवन्त हो फिर अपनी वृद्धि के लिए उत्क्रमण करते हैं। मृत्यु के उत्क्रमरस को प्राप्त कर फिर क्रम से अपने अपूर्ण आत्मा को जैसे पूर्ण करते हों। अर्थात् नये-नये पदार्थों को उत्पन्न कर, नाना रूप धारण कर अपने महत्व को स्थापित करते हैं।

इसके लिए श्रुति है—

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

इसी के अनुवाद स्वरूप श्लोक है—

पूर्णं पुरा बन्धगतं च पूर्णं पूर्णात्पुनः पूर्णमुदच्यते तत्।
पूर्णस्य पूर्णं परिगृह्यते चेदन्तेऽवशिष्येत तदेव पूर्णम्॥अ० मधु॥

रस सर्वात्मा पूर्ण है। अशनाया से परिछिन्न होने से पूर्व भी वह पूर्ण था, फिर अशनाया से बद्ध, आवृत्त रस भी पूर्ण है और जो शेष रहता है वह भी पूर्ण ही है। रस में दिखने वाली सारी परिच्छिन्नता, अपूर्णता अशनाया बल के कारण है।

यह अशनाया बल ही मृत्यु है। यह मात्राविशिष्ट होने के कारण अमृत में सृष्टि करता है—संसर्जन करता है। यही ग्रन्थिबन्ध है। कर्म-मृत्यु-अशनाया ही बांधता है, कर्म ही बंधता है। यह कर्मबन्ध ही यहाँ मृत्यु-मर्त्य कहा गया है।

जैसे वायु जल में उत्क्रमण कर उसमें बँध जाती है, उसी से फेन होता है, उसी तरह कर्म ब्रह्म में बँधता है वही कर्म बन्धन यह मर्त्य विश्व नजर आता है। यथा—

"आबध्यते ब्रह्मणि कर्म तद्वत् तन्मर्त्यमेतत् प्रतिभाति विश्वम् ।।आ० मधु।। ☐

४०. कर्मप्ररोहाधिकरण

सान्तानिक कर्म प्ररोहवत् होता है। उसके तीन प्ररोह—शाखाएं होती हैं। वृक्ष में जैसे मूल, तना, और फल होते हैं, वैसे ही कर्म-प्ररोह के इच्छा, क्रिया, ग्रावरण कहे जाते हैं।

इच्छा ग्रशनाया कां स्थूल रूप है। बलविशिष्ट व्यावहारिक जीवात्मा में शक्ति रूप से इच्छा रहती है और जब उसका मनोवृत्ति रूप से अनुभव होता है तब वह इच्छा का ही स्थूल रूप होता है। इसी प्रकार शक्ति रूप से स्थित प्राण का स्थूल रूप क्रिया है।

अन्य कुछ लोग अध्यव्यवसाय को, जो ज्ञान, ग्रशनाया, कृति इस प्रकार त्रिकोण वाला है, मूल मानते हैं। वे मूल स्थानीय प्रारम्भिक प्ररोह के लिए अध्यवसाय शब्द का प्रयोग करते हैं। "अध्यवसायो बुद्धिः"—इस प्रकार सांख्यकारिका में बुद्धि के पर्याय रूप से अध्यवसाय शब्द का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि महान् पद से जानी जाने वाली शक्ति रूपा बुद्धि का स्थूल रूप ही अध्यवसाय है। इस बुद्धिरूप-अध्यवसाय में तीन कोश हैं—ज्ञान, अशनाया (इच्छा), और प्रयत्न। नैयायिक लोग इनका ही कार्य-कारण भाव बताते हैं। यथा—"ज्ञानजन्याभवेदिच्छा, इच्छाजन्य कृतिर्भवेत्"।

पहले मत के अनुसार इच्छा में इन तीनों का ही समावेश है। ज्ञान का अनुसरण करने वाला—ज्ञानानुसारी अध्यवसाय कर्म मात्र चेतन में ही निष्ठ नहीं है। ज्ञानेन्द्रियाँ तो केवल चेतन के ही होती हैं, ज्ञान तो सर्वत्र समान प्रवृत्त है। ज्ञान, इच्छा आदि कर्म चेतन में ही हैं जड़ में नहीं—यह नहीं समझना चाहिए। शक्तिजन्य कर्मप्ररोह ज्ञान, इच्छा आदि सर्वत्र ही व्याप्त हैं। जड़ में इन्द्रियों के अभाव के कारण प्रकाश नहीं होता।

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की शरीर रचना—संस्था आत्म-अध्यवसाय भेद के कारण भिन्न भिन्न होती हैं। जैसी आत्मा के जीवन की चेष्टा होती है उसके अनुकूल ही शरीर बनता है। और अशनाया सब पदार्थों में है। ईक्षा के बिना इच्छा नहीं होती, इसलिए यह प्रज्ञा भी सब भूतों में है। प्रज्ञा भी सर्वअधिभूत है। निष्कर्ष यह है कि अशनाया का ग्रस्तित्व सर्वत्र होना स्वयं सिद्ध है। ग्रध्यवसाय—ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न सर्वत्र जड़, चेतन में—भूत मात्र में विद्यमान है।

कुछ दूसरे लोक काण्ड को—अध्यवसाय को कम्प, गति, क्षोभ इस प्रकार त्रिकोश वाला मानते हैं। कम्प, गति, नोदना तीनों ही को क्रियावृत्ति कहना चाहिए।

क्रिया यदि उच्छेद पदा—विनाशकारी हो तो वह कम्प, फलोन्मुखी-फलोत्पादिका हो तो गति और यदि भिन्न बलोन्मुखी—अन्यत्र बलान्तरोत्पादिका—दूसरे बल को पैदा करने वाली हो तो वह नोदना कहलाती है। इस प्रकार एक ही क्रिया के ग्रर्थ, फल, परिणाम की दृष्टि से तीन प्रकार-भेद कहे गये हैं।

कुछ लोग फल अर्थात् स्थानीय आवरण को ब्रह्म का भोग मानते हैं। जो आत्मा का सस्कार हैं वही भोग है। उससे माया, सत्य, और पर कर्म बीज उत्पन्न होता है इससे फल त्रिकोश है।

अमित रस में चारों ओर जो सीमाएं—मिति होती है वही माया है। यह पृथक् बल है। मिति, नाम, और रूप अभ्व सत्य है। निश्चय ही यह अमृत सत्य से छन्न-आवृत्त है। क्रम से जब वही बल घना हो जाता है तब उससे ही वासना नामक रस का आवरण होता है। यह बोया हुआ बीज फिर मूल होकर दूसरे प्ररोह को उगाता है।

बल की घनता वासना, उससे रस का आवरण, फिर वासना से कर्म और फिर कर्म और वासना की घनता—यह कर्म का क्रम है। बल घनता प्राप्त कर—निबिड़ हो वासना रूप में बदल जाता है। वह वासना रस का आवरण रूप होती है। और वासना बीज रूप है। वह बीज मूल होकर फिर दूसरे पौध अथवा फूटन को प्रारम्भ करता है। और फिर दूसरे वृक्ष रूप प्ररोह का प्रादुर्भाव होता है।

उसको वासना इस कारण से कहते हैं कि वह रस को आच्छादित करती है, अथवा रस में रहते हुए रसान्तर और बलान्तर को फिर आरोह क्रम से अपना वास बनाती है।

वासना की व्युत्पत्ति वस् धातु से है जिसका अर्थ 'आच्छादन' होता है। 'वस्' का अर्थ निवास भी होता है। उसे ही भावना भी कहा गया है, क्यों कि वह प्ररोहान्तर—अन्य प्ररोह का उत्पादन करती है। कहीं कर्मजन्य संस्कार को वासना और ज्ञानजन्य संस्कार को भावना कहते हैं। दोनों में ही संस्कार रूपता तो समान ही है। संस्कार का आधार ज्ञान भी वृत्तात्मक कर्मरूप ही है। कर्मजन्यत्व तो इन दोनों में ही समान है।

इस वासना की भी तीन तरह से निरुक्ति की गई है—विकर्म, अकर्म, और कर्म। यम, नियम, यज्ञ, तप, और दान–ये कर्म हैं। अकर्म वे हैं जो न यहां हैं, न वहाँ। काम और क्रोध प्रजाति के व्यसन विकर्म हैं। कर्म प्रसाद और विकर्म बन्धन हैं। अकर्म न यहां कुछ पैदा करता है, न आगे। उससे कोई संस्कार नहीं बनते।

यह गीता के निम्न श्लोक की अनुवाद-व्याख्या है।

"कर्मणोऽपि बोधव्यं, बोधव्यं च विकर्मणः।
अकर्मश्वापि बोधव्यं गहना कर्मणो गतिः॥"



प्रसाद वृद्धि के क्रम से सुखोदय और अतिशय प्रसाद से नि.श्रेयस होता है। यथा—"प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते"—गीता। कर्म बन्धन के क्रम से ह्रास होने पर नैष्कर्म्य होता है। यही आत्मा का एकत्व है। कर्म रहित तत्व को ही कैवल्य अथवा मोक्ष कहते हैं।

बन्ध विभूति के योग के कारण दो प्रकार का होता है—विभूतिवान् और निर्विभूति। प्रथम अर्थात् विभूतिमान् बन्ध होने पर क्रम से अभ्युदय और सुख होता है। तथा अन्य निर्विभूति से क्रम से दु:ख होता है।

बन्ध से प्ररोह, फिर प्ररोह और फिर प्ररोह—इस क्रम से प्ररोहों के कारण फिर यह आत्मा का महाप्ररोह चिर काल तक चलता ही रहता है। बन्धों के बार-बार प्ररोहण से महाप्ररोह होता है जो बहुत काल पर्यन्त आत्मा को जगत प्रवाह में डाल देता है। ☐

४१. कर्मवृक्षाधिकरण

यह विकर्म वृक्ष महाप्ररोह है। कहीं सूखा हुआ, प्रलय काल में प्रसुप्त, फिर सृष्टि समय में अनुक्रम से पोषित होकर विमोक्ष पर्यन्त नया नया हो जाता है। पूर्व विद्वानों ने इसे अश्वस्थ वृक्ष कहा है जिसका आलम्बन यह पुरुष-पूरूष: है। शाखाएं इसकी नीचे हैं और मूल ऊर्ध्व-ऊपर। यह "ऊर्ध्व मूलमधः शाखः" है। इसकी जड़ अमृत रस में सुस्थिर हैं।

यद्यपि साधारण रूप से यह कर्मवृक्ष ही कहा जाता है, इसमें कर्म, अकर्म, विकर्म सब एक हो जाते हैं, परन्तु वास्तव में तो, बन्ध का कारण होने के कारण, यह विकर्म, विरूद्ध रूप कर्म ही है। यह वृक्ष कुछ सूखता है जबकि समाधि में मनुष्य के कर्म फल अत्यन्त अल्प हो जाते हैं। यह भी एक व्याख्या है, परन्तु मूल में आचार्य मधु के शब्द हैं—"क्वचित् विशुष्कः" जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि यह विकर्म वृक्ष कुछ सूखा है अर्थात् विकर्म रूप होने से इसमें रस विभूति अत्यल्प है। प्रलय में यह प्रसुप्त रहता है, परन्तु सृष्टि दशा में फिर जाग्रत हो जाता है और मोक्ष पर्यन्त क्रम से नया-नया होता रहता है। मोक्ष पर्यन्त चलने वाले इस कर्म प्रवाह का वृक्ष रूप से रूपक सुन्दर और सांगोपांग है।

श्रीमद् भगवत् गीता में कर्म प्रवाह रूप अश्वस्थ वृक्ष का बड़ा ही सुन्दर काव्यात्मक वर्णन किया है। आचार्य मधु ने भी लगभग उन्हीं शब्दों में स्वकृत चार छन्दों में इसको कहा है—इस अश्वस्थ की शाखाऐं नीचे ऊपर फैली हुई हैं। गुण बढे हुए हैं। इसमें विषय रूप प्रवाल हैं और नीचे जड़ें फैली हुई हैं (अनुसन्ततानि)। ये मनुष्य लोक में कर्म बन्धन करने वाली हैं। यह जैसा दिखाई देता है वैसा इसका रूप नहीं है। न इस कर्म का अन्त है, न आदि है न इसकी कोई प्रतिष्ठा—स्थिति है। रूप, आकृति छन्द मानों इसके पत्ते हैं। जो इसको जानता है वही वेदविद है। इस प्रकार का यह कर्मविकर्म रूप अश्वस्त है। 'अश्वस्थ' का अर्थ जगत है। 'अश्व' बृ. उ में जगत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा, "उषा अस्थ मेधस्य अश्वस्य शिरः"। इसे ही विकर्म वृक्ष अथवा "कर्माश्वस्थ" कहा है। इसका मूल—जड़ सुविरूढ़ है—अच्छी तरह जमी हुई हैं। इसको दृढ़ असंग रूपी शस्त्र से काट कर फिर उस स्थान की, परमात्मा की ओर जाना चाहिए जहाँ जाकर फिर कोई वापस नहीं आता और "तमेवमाद्यं पुरुषं प्रपद्ये, यतः प्रवृत्तिप्रसृता पुराणी"। यही पर-अव्यय-पुरुषोत्तम क्षर और अक्षर विश्व के अतीत हैं। यही उसकी सब से अधिक विशेषता है। यही गीतोक्त क्षराक्षर विश्वातीत अव्यय उत्तम पुरुष है। यही आद्य पुरुष है। अतः कहते हैं :—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।
परोऽतिशेते पुरुषोत्तमो ऽसावतीत्य विश्वं क्षरमक्षरं च ॥

(आ० श्रीमधु)



४२. उपसंहाराधिकरण

इस ग्रन्थ में जो भी तत्त्व कहा गया है वह प्रतीतिमात्रसंसिद्ध है। इसको अन्य प्रकार से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसका अनुभव ही किया जा सकता। इसी स्वानुभव के आधार पर आचार्य मधु ने क्षराक्षर परीक्षा के द्वारा सम्पूर्ण तत्व का विवेचन किया है।

जो कुछ भी यहाँ दिखाई देता है वह सब अर्थात् सम्पूर्ण दृष्य जगत रस और बल ही है। इनमें मूल रस और मूल बल को परम कहा गया है। बल को कर्म कहा है, रस को ब्रह्म। श्रमणों ने कर्म की बात की और ब्राह्मणों ने ब्रह्म की।

भूमा, ज्योति, प्रतिष्ठा तथा इच्छा, आवरण क्रिया इनछै शक्ति विज्ञान को परिज्ञान कहा है। ये छहों ही शक्तियां सृष्टि उत्पादन के कारण हैं। सर्वात्मना–पूर्णरूप से तो इनका विज्ञान असाध्य है।

भूमा, ज्योति, प्रतिष्ठा अथवा अशनाया, आवरण और क्रिया जितना कुछ निरूपण किया गया है वह सब अक्षर और क्षर हैं। ये अक्षर और क्षर रस और बल के रूप हैं जो उनकी युक्ति–युति है, अथवा विवर्त यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

पुरातन काल में देवों के कर्ता और रक्षक ब्रह्मा थे। उन्होंने ही इस ब्रह्म विद्या की पहले उद्भावना की थी। और उन्होंने ही ब्रह्म विद्या के प्रभाव से यज्ञ विद्या प्राप्त की। यज्ञ विद्या के प्रवर्तक विष्णु अध्यक्ष हुए। ब्रह्मा, विष्णु दोनों साम्राज्य रक्षक विराज थे, ब्रह्मा विद्या के प्रभाव से और विष्णु यज्ञ के प्रभाव से। इन दोनों ने ही सर्व प्रथम ब्रह्म विद्या को देखा, किन्तु इन दोनों की भी बुद्धि पहले रस में कुंठित हो गई, उनके रस बुद्धि ग्राह्य नहीं हुआ।

ब्रह्म विद्यानुगामिनी प्रसिद्ध अर्थ वाली यज्ञ विद्या और देवर्षियों द्वारा कहीं गई देव विद्या भी परा विद्या थी। इस प्रकार विद्यात्रयी- देवविद्या, यज्ञविद्या, ब्रह्मविद्या लोक, में वेद शब्द से ही कही गई है। जिससे सृष्टि का प्रवर्तन होता है वह विद्या अपौरुषेय है। जैसे वेश भूषा, मान, पण्यनीति, भाषा आदि क्षर लोक विद्या अन्यान्य पुरुषों द्वारा कल्पित–बनाई होती है, वैसी यह वेद विद्या किसी पुरुष द्वारा नहीं बनाई गई। तृष्टा पुरुषों को तो यह वस्तु सिद्ध ही दिखाई देती है। जिस तरह यज्ञ, देव, अथवा ब्रह्म–कर्म का जगत रूप से वर्णन कर रहे हैं उस दृष्टि को वेद कहते हैं। जो वेद्य है—जिसे जाना जा सकता है वह तो नित्य ही जानाजाता है। कर्मातीत तो एक रस ही है। वह ज्ञात होकर भी अज्ञात है। जिसको वेद नहीं जानते, न विष्णु ने जाना न ब्रह्मा ने। वाणी मन सहित जिसको न पाकर लौट जाती है। कहा है—'यस्यामत तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" ॥ यो मन्येत सुवेदेति दभ्रमेव स पश्यति। मीमांस्यमेव तद्रूपं यस्त्वं वेदेषु वास्य यत् ॥ नाहं मन्ये सुवेदेति नो न बेदेति वेद च। यो स्ताद् वेद नो न वेदेति वेदच ॥ इत्यादि।

जितना अवर–नीचे के स्थान में है उतना जाना जाता है। जो पर स्थान में है, अर्थात् जो सूक्ष्म है, स्वतन्त्र है वह रूप नहीं जाना जा सकता। पूरी तरह से तो अर्थात् सर्वात्मना उसका ज्ञान अवर–जगत में भी नहीं हो सकता। जो अनीश है वह कौन शक्तिचरित्र को जान सकता है।

ऐसे ही के लिए कहा है—'अनीशया सोचति मुह्यमानम्' । ब्रह्म का अवर–विश्वचर रूप भी पूरी तरह से कोई नहीं जान सकता, उसके अनन्त प्रवह के कारण । यहाँ अत्यन्त अल्प विज्ञान भी श्रेयस्कर होता है । इसलिए इस परविज्ञान में सर्वदा यत्नवान् होना चाहिए । ज्ञान स्वरूप अव्यय भगवान स्वयं कहते हैं कि—"स्वल्पमप्यस्यधर्मस्व त्रायते महतो भयात्" । आचार्य मधु ने भी अपने 'दशवाद रहस्य' नामक ग्रन्थ में कहा है—"अचिन्त्य भावेष्वपि तेषु यावन् मनुष्यधीः क्षाम्यति तावदूह्यं । स्वयं तदायाति मनुष्यबुद्धौ न शक्यते ज्ञानमुपेक्षितुं तत् ।"

अचिन्त्य भावों के सम्बन्ध में भी जितनी मनुष्य की बुद्धि में सामर्थ्य हो उतना विचार करना ही चाहिये । इस प्रकार वह अचिन्त्य भाव भी स्वयं मनुष्य की बुद्धि में आ जाते हैं । उस ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

अक्षर अथवा क्षर जिसका भी बोध होता है—जो भी जाना जाता है वही उसका विज्ञान है—यही निष्कर्ष है । च्यूं कि इससे रहस्य–अक्षर ज्ञान प्रतिष्ठित होता है इसलिये वह पर विज्ञान यहाँ उपनिषद् कहा गया है । वही परा विद्या कही गई है जिससे अक्षर जाना जा सकता है । कहा है—"परविद्यायां निष्णातः अक्षरं ज्ञातु मर्हति" ।

इति श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पति—आचार्य मधु प्रणीत ब्रह्म विज्ञान (विभाग) में परविद्याध्याय में 'सिद्धान्तवाद' नामक ग्रन्थ का सटीक 'सार-संक्षिप्त' हिन्दी अनुवाद ।



परिशिष्ट

मूल 'ब्रह्म सिद्धान्त' की विषयानुक्रमणिका।

४९. प्राण, अपात व्यान का निरूपण।

५०. निर्विकाराधिकरण—रस का सृष्टि में भी निर्विकारित्व।

५१. ब्रह्मदर्शनाधिकरण—जगत में ब्रह्म की प्रतीति किन-किन रूपों में होती है इसका विवरण।

५२. आत्माधिकरण—आत्म शब्द का और कहाँ-कहाँ किसका आत्मत्व है इसका विस्तार।

५३. सिंहावलोकनाधिकरण—पूर्वोक्त विषयों का ही कुछ विशेषताओं के साथ पुनः विवरण; शरीर परिच्छिन्न आत्म का विवरण; बन्ध, योग, विभूति का पुनः सुबोध रूप से निरूपण; पुरुष त्रय का का पुनः प्रकारान्तर से स्पष्टीकरण इत्यादि।

(२) द्वितीयाऽधिकार

१. परधर्माधिकरण—वाक्, प्राण, और मन जगत में प्रतिष्ठा, विधृति और ज्योति इन तीन रूपों से धर्म रूप होते हैं।

२. मानाविकासाधिकरण—(तीन प्रकार की ज्योतियाँ—क्षर भौतिक ज्योति, अक्षर ज्ञान ज्योति, तथा पर ज्योति विकास सर्वत्र ही ज्योति तम से अनुविद्ध हैं, और सब तम ज्योति से अनुविद्ध हैं)।

३. मन में सत्त्व भी क्षर ज्योति का रूप है।

४. विकास तीन प्रकार का—मात्रा, संस्था और दीप्ति। ये तीनों प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के हैं। इस प्रकार ज्योति नौ प्रकार की होती है।

५. काल विकास का निरूपण। रूप दर्शन की उपपत्ति, तरंग विकास और शब्द प्रसार की उपपत्ति। स्वयं ज्योति, पर ज्योति इत्यादि तीन प्रकार के पदार्थों का विवरण।

६. दो प्रकार के विकास, अस्ति और भांति का निरूपण। ज्ञान, वेद के कारण होता है। परिच्छेद, बल के कारण होता है।

७. संस्था विकासाधिकरण। माया, दशा, प्रत्यय भेद से संस्था विकास तीन प्रकार का। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद। संस्था विकास क्षर, अक्षर आदि पुरुषों के प्रादुर्भाव का कारण है। क्षर से उत्पन्न जो चौथा है वह पशु, भोक्ता, जीव है। माया अमृत रूप है—वह इसका प्रतिपादन।

८. अक्षर आदि का भी मूल रस से ही प्रादुर्भाव होता है, न कि अव्यय से—इसका प्रतिपादन।

९. भाव विकास, प्रसाद विकास, और उद्गीय आदि शब्दों का विवरण।

१०. भावप्रसाद क्रम।

११. सप्त आवरणों का विवरण; आवरण हटने पर परमात्म में निलय। ओंकार व्याख्या—टीका में। अहम्, अहः, ओम्—इनका ऐक्य।

१२. विकास का ही विवरण और दीप्ति विकासाधिकरण ।

१३. ज्योतिर्ब्राह्मिण विवरण ।

१४. विधृति अधिकरण । विधृति—बुद्धि प्रयोजिका और आधार, आधेय भाव प्रयोजिका । भर्ग, मह, यश का निरूपण—टीका में ।

१५. भर्ग, मह, यश तीनों में भी विधृति के उदाहरण । (यह प्रकरण वैज्ञानिक है, विचारणीय है) ।

१६. विधृति के ही तीन भेदों का स्पष्टीकरण । लघुत्व एवं गुरुत्व पदार्थों में कहाँ से प्रतीत होता है इसका उपपादन —टीका में ।

१७. विधृति के तीनों भेदों के ऐक्य का प्रतिपादन और विधृति तथा प्रतिष्ठा का भेद । (यह वैज्ञानिक प्रकरण है जिसका विशेष रूप से अनुसन्धान करना चाहिए) ।

१८. विधृति की आनन्द रूपता का विवरण ।

१९. प्रतिष्ठा स्वरूप विवरण तथा उसकी सत्ता रूपता ।

२०. व्यक्ति, आकृति, जाति विवरण । जाति ब्रह्मरूपा प्रतिष्ठा ही है, कोई अन्य प्रतिष्ठा नहीं । और भिन्न-भिन्न भाव विकास ही हैं ।

२१. उदाहरण विधा से प्रतिष्ठा अद्वैत होने का प्रतिपादन ।

२२. भूमाधिकरण—भूमा का विवरण । छान्दोग्य उप० में वर्णित नारद-सनत्कुमार संवाद के अनुवादरूप पद्य ।

२३. आत्मा-भूमा की आनन्दरूपता का प्रतिपादन ।

२४. जगत की आनन्दरूपता का प्रतिपादन ।

२५. अणिमा का निरूपण । सर्वत्र ही अवयव हैं । परमाणु भी निरवयव नहीं है ।

२६. भूमा और अणिमा का परस्पर परिवर्तन ।

२७. रस भेदाधिकरण—आनन्दरूपता का विस्तृत उपपादन । शान्तानन्द, समध्यानन्द आदि का स्वरूप और ज्ञान की आनन्दरूपता ।

२८. सत्ता और ज्ञान का विशेष उपपादन ।

२९. आनन्दरूप आत्मा में भी, भय दुःख आदि कैसे ? इसका तथा भय और दुःख के सहभाव नियम पर विचार ।

३०. भय, ज्ञान पूर्वक है अथवा अज्ञान पूर्वक—इस पर विचार । भय होने पर शरीर में अनेक प्रकार से विरुद्ध अवस्था भी होती है—इस पर विचार ।

३१. प्रज्ञा में कर्मबन्ध का दृढ़त्व और और शिथिलत्व विज्ञान ही बन्ध और मोक्ष करने वाला है—इसका वैज्ञानिक रीति से उपपादन ।

(३) तीसरा अधिकार

२५. छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार के उपदेश का विवरण ।

२६. सुखेच्छा का जड़ चेतन साधारणत्व ।

२७. नोदना नामक विक्षेप के भेद का पाँच प्रकार से व्याख्यान ।

२८. मुसल कर्म विवरण । पृथ्वी के आकर्षण का निरूपण—टीका में ।

२९. पाँच प्रकार के नोदना कर्म के उदाहरण—वैशेषिक सूत्रों का प्रमाण और व्याख्या ।

३०. आवरणाधिकरण और उसके छः भेद ।

३१. अभाव और तम का निरूपण ।

३२. रस, बल का परस्पर आवरण । संस्कार निरूपण और बन्ध, मोक्ष आदि की व्यवस्था का संकेत ।

सांख्य के आभास (३३–३९)

३३. सांख्योक्त गुणों में तथा अन्यत्र भी सत्त्व प्राधान्य का निरूपण ।

३४. सांख्योक्त गुणों में तथा अन्यत्र भी रज प्राधान्य का निरूपण ।

३५. सांख्योक्त गुणों में तथा अन्यत्र भी तम प्राधान्य का निरूपण ।

३६. तीनों ही, सत्वादिगुण, प्रारम्भ से ही भिन्न हैं—इस सांख्योक्त मत का उपपादन और प्रकृति का शक्तित्व ।

३७. सत्त्वादि तीनों गुणों का निगूढ़, अदूढ़ आदि पाँच प्रकार का परस्पर सम्बन्ध ।

३८. सत्त्वादि गुण उत्पादक न होते हुए भी आत्म सम्बन्धों में इसकी प्रतीति होती है—इसका निरूपण ।

३९. कर्मरूपाधिकरण—शक्तिजन्य क्रिया के तीन रूप—क्षणिक, सान्तानिक, प्रावाहिक ।

४०. एक ही क्रिया के असंख्य क्रिया समष्टि रूपों का निरूपण—टीका में ।

४१. प्रवाहाधिकरण ।

४२. मुख्य कर्म का भिक्षणत्व, द्विक्षणत्व निरूपण ।

४३. उपासना विवरण और प्रतीकोपासना की आवश्यकता ।

४४. अनुरूप चित्रोपासना विवरण ।

४५. गंगाप्रवाह और बलप्रवाह का साधर्म्यवैधर्म्य विवरण । (टीका में—भक्ति शब्दादि का भी विवरण और भक्ति के भेद) ।

४६. उपासनाधिकरण—प्रतीक, प्रतिरूप, अथवा दृष्टान्त से कहीं भी तत्व आरोप और तुल्य नाम, रूप, कर्म का उपचार उपासना है—इसका प्रतिपादन ।

४७. **सांतानिक अधिकरण** – इसमें अनेक ब्रह्माणु तथा उसके अवान्तरसूर्य आदि उत्पत्ति रूप तरंग का विवरण है।

४८. **क्षणिकाधिकरण**—इसमें कर्मों के तीन प्रकारों की उत्पत्ति और तीनों का साधर्म्य और वैधर्म्य का विवेचन है।

४९. **कर्मबन्धाधिकरण**—फेनादि की उत्पत्ति की व्याख्या और ग्रन्थिनिरूरण।

५०. **कर्मप्ररोहाधिकरण**—अध्यवसाय, व्यवसाय आदि का जड़चेतन आदि में सर्वत्र व्यापकत्व और प्रत्येक का चिकोषत्व। क्रिया के भी तीन भेदों का (भेदत्रय का) उपपादन।

५१. भोग शब्दार्थ विवरण। निर्विकार होने पर भी भोग की उपपत्ति (टीका में—सत्य शब्द की अनेकार्थ व्याख्या।)

५२. भावना, वासना का निरूपण। **कर्मवृक्षाधिकरण**—कर्म का वृक्ष रूप से प्रतिपादन।

५३. **उपसंहाराधिकरण**—ग्रन्थ में विवेचित विषयों का संक्षिप्त निर्देश।

५४. ब्रह्मविद्या, यज्ञविद्या का स्वरूप संकेत। इनके अविज्ञेय होते हुए भी जिस प्रकार, जितना भी हो उतना इनके ज्ञान के लिए प्रयत्न करणीय है। □

नोट—मूल ग्रन्थ की श्लोक संख्या १०५९ हैं। विषय की दुरूहता के कारण संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद में 'सांख्याभास' अधिकरण को छोड़ दिया है।